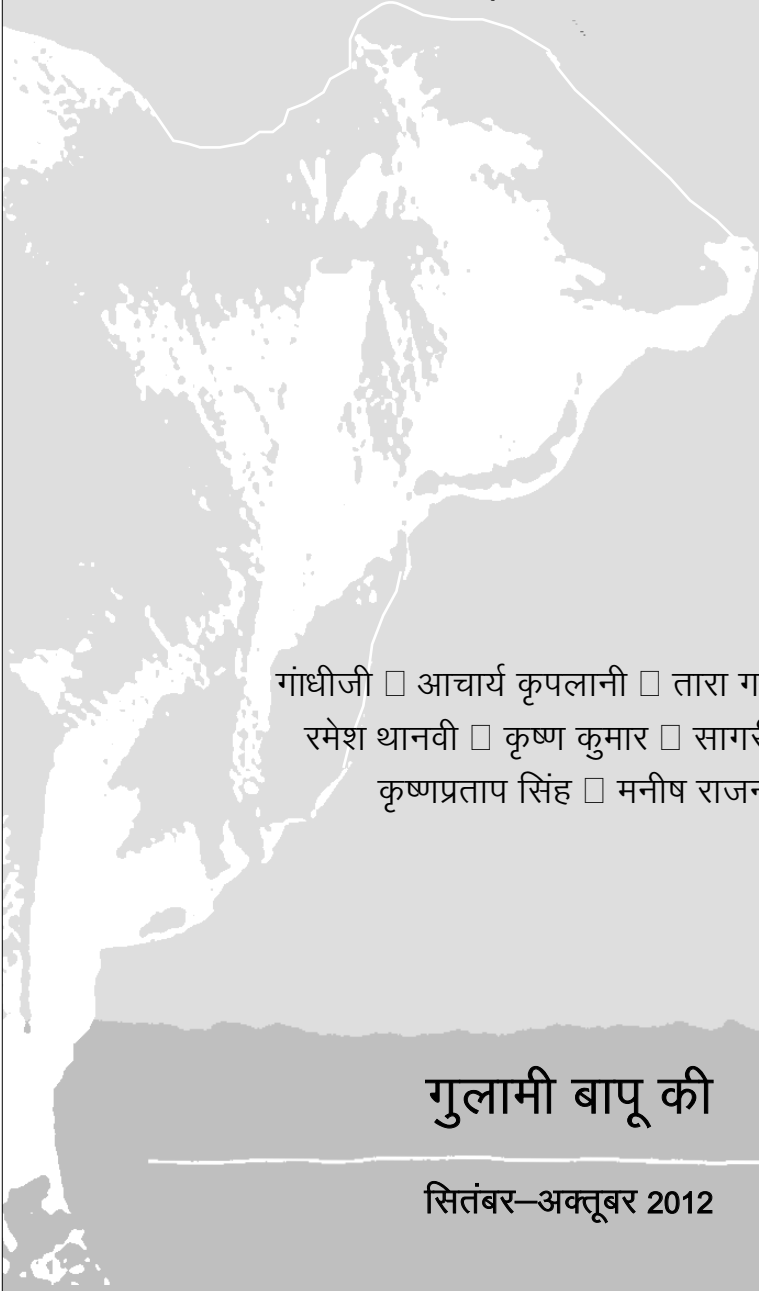


गांधी-मार्ग



गांधीजी □ आचार्य कृपलानी □ तारा गांधी भट्टाचार्य
रमेश थानवी □ कृष्ण कुमार □ सागरी रामदास
कृष्णप्रताप सिंह □ मनीष राजनकर

गुलामी बापू की

सितंबर-अक्तूबर 2012

सृजन स्मरण



जहाँ हमने मन अथवा वचन से कहा -
हे प्रभु हम पर दया करो, वहीं हम उस निराकार
की छाती के भीतर मन की कल्पना कर चुके हैं।
क्योंकि मन न होगा तो दया ठहरेगी कहीं
और शरीर न होगा तो मन रहेगा कहीं?

प्रताप नारायण मिश्र

(1856-1894)



सूचना एवं प्रचार निदेशालय

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 54, अंक 5, सितंबर-अक्तूबर 2012



गांधी शांति प्रतिष्ठान



1. अपनी प्रवृत्तियों से अलग मेरा कोई अस्तित्व नहीं	गांधीजी	3
2. गुलामी बापू की	आचार्य कृपलानी	5
3. पुस्तकों का स्वराज	कृष्णप्रताप सिंह	9
4. जल का भंडारा	मनीष राजनकर	15
5. विनोबा: गूंगे का गुड़	अनुपम मिश्र	25
6. रिकार्ड में नहीं, खूंटों पर चाहिए	सागरी रामदास	29
7. कबीर का करघा और गांधी का चरखा	रमेश थानवी	33
8. पुराना चावल : चार हजार रिक्त पद	कृष्ण कुमार	36
9. पोथी पढ़ि पढ़ि : असाधारण युग के वे साधारण दिन	तारा गांधी भट्टाचार्य	41
10. टिप्पणियां		51
11. पत्र		56

वार्षिक शुल्क : भारत में 100 रुपए, दो वर्ष का 190 रुपए, आजीवन-500 रुपए (व्यक्तिगत), 1000 रुपए (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य बीस रुपए, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें।

संपादन : अनुपम मिश्र, सज्जा : दिलीप चिंचालकर, प्रबंध : मनोज कुमार झा

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2 के लिए अनुपम मिश्र द्वारा प्रकाशित

फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, फैक्स : 011-2323 6734

Email: gmhindi@gmail.com

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस, 2810 गली माता वाली, चांदनी चौक, दिल्ली-06, फोन नं.011-23264968

अपनी प्रवृत्तियों से अलग मेरा कोई अस्तित्व नहीं

गांधीजी

सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने मेरे 71 वें जन्मदिन को खास महत्त्व दे डाला है। उन्होंने मुझे अपनी पुस्तक भेजी है, जिसमें अनेक परिचित और अपरिचित मित्रों द्वारा की गई मेरी प्रशस्तियां हैं। इस पुस्तक के साथ उन्होंने जो पत्र भेजा है, उसमें भी कुछ और प्रशंसा की है। मैं नहीं जानता कि उस ग्रंथ में संकलित सब प्रशंसात्मक लेखों को पढ़ने का समय मैं कब निकाल पाऊंगा। मैं तो यही प्रार्थना कर सकता हूं कि ईश्वर मुझे शक्ति दे कि उन लेखकों के मन में मेरी जो तसवीर है, मैं वैसा बन सकूं। सर सर्वपल्ली और उन सबको, जिनके आशीर्वाद और शुभकामनाएं मुझे प्राप्त हुई हैं, मैं धन्यवाद देता हूं। प्रत्येक को अलग से आभार प्रकट करते हुए पत्र लिख पाना मेरे लिए संभव नहीं है।

लेकिन अपने प्रशंसकों को मैं एक चेतावनी जरूर देना चाहूंगा। कुछ लोग सार्वजनिक स्थानों पर मेरी मूर्ति खड़ी करना चाहते हैं, कुछ तसवीरें लटकाना चाहते हैं और कई हैं जो मेरे जन्मदिन को आम छुट्टी का दिन बना देना चाहते हैं। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी मुझे अच्छी तरह

जानते हैं। इसलिए उन्होंने विवेकपूर्वक मेरे जन्मदिन को आम छुट्टी का दिन बनाने के सुझाव को रद्द कर दिया है।

आजकल मतभेद और कलह-क्लेश के दिन हैं। ऐसे समय में यदि मेरा नाम मतभेद और कलह-क्लेश को बढ़ाने में किसी भी तरह कारण-रूप बनता है तो यह मेरे लिए शर्म की बात होगी। ऐसे अवसर न आने देना देश की और मेरी सच्ची सेवा होगी। मूर्तियों, चित्रों या अन्य ऐसी चीजों के लिए आज कोई अवकाश नहीं है।

मेरी सच्ची प्रशंसा इसी बात में है और मैं ऐसी प्रशंसा को ही मूल्यवान समझूंगा कि जिन प्रवृत्तियों के लिए मैंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया है, उन प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाया जाए। ऐसा प्रत्येक स्त्री-पुरुष, जो सांप्रदायिक मेल पैदा करने या अस्पृश्यता के कलंक को मिटाने या गांव का हित-साधन करने में से कोई एक भी काम करता है, मुझे सच्चा सुख और शांति पहुंचता है। विभिन्न खादी-भंडारों में जो खादी इकट्ठा हो गई है, कार्यकर्ता इन दिनों उसे खपाने की कोशिश कर रहे हैं। इस खादी को यदि लोग खादी-सप्ताह अथवा पखवाड़े में, जिसे गलती से गांधी-जयंती सप्ताह के नाम से विभूषित किया गया है, खरीद लें तो उनसे बढ़कर आशीर्वाद और खुशी की बात मेरे लिए और कोई नहीं हो सकती।

अपनी प्रवृत्तियों के बिना या उनसे अलग मेरा कोई अस्तित्व नहीं है।

पहली अक्टूबर, 1939, दिल्ली जाते हुए रेलगाड़ी में।
संपूर्ण गांधी वांगमय, खंड सत्तर से साभार।



गुलामी बापू की

आचार्य कृपलानी

आज बापूजी की बात कहने लगा हूं, तो उससे पहले थोड़ी अपनी कहानी भी सुना दूं।

मैं बचपन से ही थोड़ा विद्रोही रहा हूं। घर में विद्रोह, पाठशाला में विद्रोह। शिक्षकों के साथ भी मेरे कई बार झगड़े हुए। दो बार तो मुझे कॉलेज से निकाल दिया गया था। नौकरियां बदलनी पड़ी हैं। इतना ही नहीं प्रांत भी बदलने पड़े हैं। मैं अपने मित्रों को भी कष्ट देता हूं, शत्रु की तो कोई बात ही नहीं। इसी कारण मुझे कोई अपने पास नहीं रखता।

आजकल क्रांति की बातें खूब होती हैं। जहां जाओ, वहां 'इंकलाब जिंदाबाद' की आवाज सुनाई देती है। परंतु उस जमाने में इंकलाब पुकारने वाला कोई नहीं था। मरने वाले थोड़े से थे। शायद उन थोड़ों में एक मैं भी था।

हमको अहिंसा वगैरह में कोई भरोसा न था। पढ़ाई पूरी होते ही मैं अध्यापक बन गया। वह क्यों? दूसरों पर क्रांति की रंगत लगाने के लिए! सरकार मुझे वेतन देती थी और मैं सरकार के विरुद्ध बगावत फैलाता था। ऐसे समय में जब बापूजी आए, तब मैं बिहार के मुजफ्फरपुर में इतिहास पढ़ाता था।

बापूजी सन् 1914 में अफ्रीका से भारत आए और अपने लड़कों यानी अपने आश्रम के लड़कों को लेकर कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शांति निकेतन में उतरे थे। तब तक वे 'महात्मा' की उपाधि से विभूषित नहीं हुए थे। उन दिनों वे मिस्टर गांधी कहलाते थे। फिर भी वे एक विचित्र प्राणी तो थे ही। विचित्र प्राणी को देखने का किसका मन नहीं होता? मैं भी कौतुहलवश उनसे मिलने निकला।

उनका शरीर इतना छोटा और दुबला कि किसी को यह नहीं लग सकता था कि यहां कोई महापुरुष बैठा है। लेकिन दो चीजें उनको बाकी सबसे अलग कर देती थीं। उनकी वाणी और आंखें। उनकी आंखों में कोई अदभुत ज्योति थी।

उनकी वाणी में अजब शक्ति। उनकी आवाज भारी नहीं थी तो भी ऐसा मालूम होता मानो मेघ गरज रहे हों। खूब विचार-विचार कर बोल रहे हों। ऐसा लगता था कि जो कुछ वे कह रहे हैं, उसे वे करके छोड़ेंगे। ऐसी ध्वनि उसमें सुनाई देती। इसी कारण उनका धीमा और मंदगति वाला शब्द प्रवाह भी बहुत प्रबल, शक्तिशाली लगता था।

उस समय बापू की पोशाक, आहार, सब कुछ अलग था। आज जो गांधी टोपी घर-घर प्रख्यात हो चुकी है, वही गांधी टोपी वे उन दिनों पहना करते थे। पैर नंगे! आहार में मूंगफली। यहां आने से पहले वे फलाहार ही करते थे। यह

उनका नियम था। यहां आकर देखा कि फलाहार बहुत महंगा पड़ेगा और महंगा आहार गरीब को कैसे ठीक पड़ेगा। इसलिए उन्होंने मूंगफली खाना शुरू किया। यह तो हुई उनकी बाहर की बात। अब सुनो भीतर की!

अपनी पहली मुलाकात में ही मैंने अपने को उनके प्रति सौंप दिया था। इसका यह अर्थ नहीं है कि बापू की सभी बातें मुझे मान्य हैं— भई बिलकुल नहीं! बापू जब से आए हैं, संयम की बातें करते रहते हैं। मुझमें संयम है ही नहीं। इस प्रकार हमारे बीच में कुछ भी मेल नहीं है। मेरे जैसा विद्रोही चेला गांधी का दूसरा कोई नहीं होगा।

पहली मुलाकात में ही मैं समझ गया कि यह आदमी जो काम हाथ में लेगा, उसे पूरा किए बिना छोड़ेगा नहीं। या तो काम को समाप्त कर डालेगा, या अपने को ही समाप्त कर डालेगा। इसके अलावा उस समय उनमें एक दूसरी शक्ति भी मुझे दिखाई पड़ी। वह है लोगों को अपनी ओर खींच लेने की शक्ति। इस आकर्षण का कारण यह था कि यह आदमी सर्वथा प्रामाणिक था। ऐसी एकाग्रता, दृढ़ता, प्रामाणिकता तथा विचारवत्ता वाला आदमी मैंने पहले कभी नहीं देखा था। महापुरुष मैंने अनेक

देखे थे, परंतु उनकी जैसी शक्ति मैंने कहीं भी नहीं देखी थी। उस समय के बहुत बड़े-बड़े नायकों ने देश की गरीबी के विषय में बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी थीं, परंतु गरीबी क्या चीज है, यह भी नहीं जाना था। उन लोगों ने स्वदेशी के विषय में बड़े-बड़े उत्तेजक भाषण दिए थे, परंतु स्वदेशी कपड़ा कैसा होता है, यह कभी नहीं देखा था।

इस तरह अपनी पहली मुलाकात में ही मैंने अपने को उनके प्रति सौंप दिया था। इसका यह अर्थ नहीं है कि बापू की सभी बातें मुझे मान्य हैं— भई बिलकुल नहीं! बापू जब से आए हैं, संयम की बातें करते रहते हैं। मुझमें संयम है ही नहीं। इस प्रकार हमारे बीच में कुछ भी मेल नहीं है। मेरे जैसा विद्रोही चेला गांधी

का दूसरा कोई नहीं होगा। इतना होते हुए भी मैंने उनकी तानाशाही मंजूर की है। इसका कारण बताता हूँ।

दुनिया में तीन प्रकार के लोग होते हैं। पहले हैं, जो अपनी महत्ता और शक्ति को समझते हैं। उनमें दूसरों को ले चलने की भी शक्ति होती है। दूसरा प्रकार उन लोगों का है, जिनमें दूसरों को चलाने की शक्ति नहीं होती। वे स्वयं मानो अनुयायी होने के लिए ही बनाए गए होते हैं। इसलिए वे लोग दूसरे की महत्ता और शक्ति को समझ सकते हैं, स्वीकार कर सकते हैं तथा स्वीकार कर लेते हैं। तीसरे प्रकार के लोग वे होते हैं, जिनमें महत्ता और शक्ति नहीं होती। वे दूसरों की महत्ता और क्षमता को समझ नहीं सकते, स्वीकार भी नहीं कर सकते। ये लोग कुछ नहीं कर सकते। इनकी हालत त्रिशंकु जैसी बड़ी विचित्र होती है।

अक्सर लोग मुझसे पूछते हैं कि आप हिंसा में भरोसा रखने वाले हैं और गांधी ठहरे परम अहिंसावादी! गांधीजी ब्रिटिश राज्य में श्रद्धा रखने वाले हैं और आप उसका उच्छेद करने वाले। तो आपने उनका नेतृत्व किस प्रकार स्वीकार किया? मैंने इस आदमी में एक शक्ति देखी है। वह है या तो काम को अंत तक पहुंचाना या अपना अंत कर देना। इसलिए मैंने इनको अपना नेता स्वीकार किया है।

दूसरे उनमें सच्चाई है। आज वे अहिंसा का समर्थन करते हैं, परंतु जिस क्षण इनको यह समझ में आ जाएगा कि अहिंसा से कुछ सिद्ध होने वाला नहीं है, उसी समय वे हिंसा के रास्ते पर चल कर ऐसी उग्रता से लड़ेंगे, वैसा दूसरा नहीं लड़ेगा। इस एक ही चीज ने मुझे उनके प्रति आकृष्ट किया है। इसीलिए मैं उनके साथ हूँ। हिंसा के विषय में तो मेरा विश्वास हो गया है कि बापू को हिंसा से डिगा देना, विचलित करना, एकदम असंभव है। उनको जिस क्षण यह लगा कि ब्रिटिश राज्य देश के कल्याण के लिए नहीं है, उसी समय उन्होंने उसके लिए ऐसे कठोर विशेषण प्रयुक्त किए हैं, जैसे लोकमान्य तिलक भी नहीं कर पाए थे। ब्रिटिश शासन को उन्होंने शैतानी राज्य कहा और वह भी इतने जोर से कि फिर तो पूरा देश उसको शैतान कहने लगा। नन्हें बच्चे भी उसे शैतान सरकार कहते तो भी उनको कोई पकड़ता नहीं था।

अक्सर लोग मुझसे पूछते हैं कि आप हिंसा में भरोसा रखने वाले हैं और गांधी ठहरे परम अहिंसावादी! गांधीजी ब्रिटिश राज्य में श्रद्धा रखने वाले हैं और आप उसका उच्छेद करने वाले। तो आपने उनका नेतृत्व किस प्रकार स्वीकार किया? मैंने इस आदमी में एक शक्ति देखी है। वह है या तो काम को अंत तक पहुंचाना या अपना अंत कर देना।

उनके जैसा काम करने वाला और काम लेने वाला अब तक मैंने नहीं देखा। वे छोटे-छोटे कामों में भी अपना प्राण होम करने के लिए तैयार हो जाते। अपने प्राण हथेली पर रखकर घूमने वाला मैंने उन जैसा कोई दूसरा नहीं देखा। अपने प्राणों को संकट में डालकर उनको यह नहीं लगता था कि वे कोई महान त्याग कर रहे हैं। छोटे-छोटे कामों में भी वे बड़े-बड़े कामों को समाया हुआ समझते थे।

वे टट्टी साफ करते हरिजनों का काम करते हैं और मानते हैं कि वे देश का उद्धार कर रहे हैं। जिस काम को कुछ एक लोग 'ओल्ड डेम्स वर्क' यानी पुरानी बुढ़िया का काम कहते थे, उस चरखे में भी वे देश का उद्धार देखते थे। कोई भी छोटा काम उनको जरा भी छोटा नहीं लगता था। उसमें तो उनको स्वराज्य के दर्शन होते।

हम लोग आत्मा में परमात्मा का दर्शन करना कहते हैं, उसी प्रकार वे उन चीजों में स्वराज्य के दर्शन करते। इसी कारण उनके साथ कोई प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता था। मुझे तो यह लगता है कि उनकी फिलासफी का एक महत्वपूर्ण अंग यह है कि उनमें कहीं भी प्रतिस्पर्धा के लिए कोई जगह ही नहीं छोड़ रखी थी। तुम एक बंदूक रखोगे तो सामने वाला दो बंदूक ले आएगा। लेकिन यदि तुम अहिंसक बन जाओगे, बंदूक ही नहीं रखोगे तो सामने वाला तुमसे होड़ करने, लड़ने भला क्या ले आएगा?

कांग्रेस के सबसे बड़े पदों पर रहते हुए भी एक मूक सेवक की तरह काम किया। फिर दल छोड़ा, दूसरा दल बनाया। फिर कुछ साल बाद उस दल-दल से ही बाहर निकल आए। बिना किसी पद के भी वे देश के राजनीति और रचनात्मक कामों के सबसे मुखर नेता बने रहे।



पुस्तकों का स्वराज

कृष्णप्रताप सिंह

1857 के स्वतंत्रता संग्राम में दिल्ली के पतन के महीनों बाद तक अंग्रेजों से दो-दो हाथ करते रहने वाले लखनऊ को भी अंततः मार्च, 1858 में हार की नियति को स्वीकार कर लेना पड़ा था। भयावह विनाश की साक्षी बनी उसकी आंखें एकबारगी सपनों तक से महरूम हो गई थीं।

लेकिन इसी लखनऊ में 23 नवंबर, 1858 को मुंशी नवलकिशोर ने पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े देशवासियों में फिर से आत्मविश्वास पैदा करने के लिए काम शुरू किया। उनके प्रेस ने प्राचीन गौरवबोध जगाने व ज्ञान-विज्ञान की समकालीन उपलब्धियों से वाकिफ कराने वाली पुस्तकों के प्रकाशन में नया इतिहास रचने का सपना संजोया। फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा।

नवलकिशोरजी का जन्म सन् 1836 में 3 जनवरी को दिल्ली के शासकों की सेवा करके जागीरें वगैरह पाने वाले आगरा-अलीगढ़ के एक ब्राह्मण परिवार में यशोदा देवी और यमुनाप्रसाद के दूसरे बेटे के रूप में हुआ था। उन्होंने आगरा कॉलेज से फारसी व अंग्रेजी की पढ़ाई पूरी करने के बाद बहुत छोटी उम्र में ही उर्दू के पत्र 'सफीरे-आगरा' में लिखना शुरू कर जता दिया था कि उनकी दिलचस्पी पुश्तैनी जागीरें संभालने से ज्यादा पुस्तकों का एक ऐसा स्वराज्य खड़ा करने में है, जिसका कोई सानी न हो।

उनकी रुचि को देखते हुए पिता यमुनाप्रसाद ने उनको अपने लाहौर के मित्र मुंशी हरसुख राय के पास भेज दिया। हरसुख राय लाहौर में कौहिनूर नाम से एक प्रेस चलाते थे और इसी नाम का उर्दू का एक अखबार भी प्रकाशित करते थे। प्रेस और अखबार का काम सीखने के थोड़े ही दिनों बाद व्यावहारिक

व कार्यकुशल नवलकिशोर ने अपने साहस, परिश्रम, उद्यम, कल्पनाशीलता, लगन, दूरदृष्टि और नेतृत्वक्षमता का भरपूर प्रदर्शन कर वहां मैनेजर का पद पा लिया और मुंशी हरसुख राय के सम्मान में अपने नाम में भी मुंशी लगाना शुरू कर दिया।

फौजदारी के एक मामले में हरसुख राय को तीन साल की सजा हो गई। नवलकिशोर ने उनका साथ नहीं छोड़ा। जब वे छूटकर आए तो नवलकिशोर की

इस प्रेस के नाम इतिहास में कई कीर्तिमान दर्ज हैं। इसने पहली बार मुकम्मल रूप से कुरान छापी और समय के साथ उसके 17 से अधिक संस्करण निकाले। पचास से ज्यादा टीकाएं भी इसमें जोड़ दी जाएं तो इस्लाम की दृष्टि से यह एक ऐसा काम था जो किसी इस्लामी देश ने भी नहीं किया।

सेवाओं से प्रसन्न होकर उन्होंने उनको एक हैंड प्रेस उपहार में दे दिया। इसे लेकर नवलकिशोर लखनऊ आ गए। यहीं 23 नवंबर, 1858 को छपाई की एक छोटी-सी मशीन से वजीरगंज में मुंशी नवलकिशोर प्रेस की स्थापना की। आगे चलकर यह प्रेस अपनी यात्राओं के क्रम में वजीरगंज से गोलागंज और फिर रकाबगंज होते हुए हजरतगंज पहुंचा।

इस प्रेस के नाम इतिहास में कई कीर्तिमान दर्ज हैं। इसने पहली बार मुकम्मल रूप से कुरान छापी और समय के साथ उसके 17 से अधिक संस्करण निकाले। पचास से ज्यादा टीकाएं भी इसमें जोड़ दी जाएं तो इस्लाम की दृष्टि से यह एक ऐसा काम था

जो किसी इस्लामी देश ने भी नहीं किया। इसी तरह सन् 1868 में मुंशी नवलकिशोर दुनिया के अकेले ऐसे प्रकाशक बन गए, जिसने अत्यन्त सुंदर ढंग से छपी कुरान एक रुपए आठ आने में उपलब्ध कराई। ये पहली बार था जब सामान्य मुसलमान को अपनी पवित्र पुस्तक इतनी कम कीमत में उपलब्ध हुई। नवलकिशोर प्रेस में कुरान व हदीस तथा हिन्दू, सिख, बौद्ध व जैन धर्म की पुस्तकों की छपाई में उनकी पवित्रता का पूरा ध्यान रखा जाता था। यह सुनिश्चित किया जाता था कि उनकी छपाई के काम में ऐसे कर्मचारी लगे, जो साफ सुथरे और नहाए धोए हों।

सन् 1870 आते-आते उनका प्रेस ऐसी बुलंदी पर पहुंच गया कि हर रोज कोई लाख पन्नों की छपाई होने लगी। पेरिस के एलपाइन प्रेस के बाद वह दुनिया का सबसे बड़ा छापाखाना बन गया। इसमें 1200 कर्मचारी अपनी जीविका अर्जित करते थे। छापाखाने से जो सामग्री छप कर बाहर जाती, उनका सालाना डार्क खर्च कोई 50,000 रुपए तक आता था। बताते हैं कि इस प्रेस को पच्चीस हजार

से ज्यादा चिट्ठियां हर साल मिलती थीं। इतनी सारी चिट्ठियों के आदान-प्रदान को सुविधाजनक बनाने के लिए ही डाक विभाग ने लखनऊ पोस्ट ऑफिस इस प्रेस के बगल में स्थापित किया था। सन् 1871 में इस प्रेस ने इंग्लैंड से एक लाख इक्तीस हजार रुपए का कागज खरीदा था। बाद में छापाखाने की बढ़ती मांग को पूरी करने के लिए मुंशीजी ने लखनऊ के निशातगंज में गोमती के किनारे लखनऊ पेपर मिल स्थापित कर दी थी। इस प्रेस की प्रेरणा से देश भर में 33 पुस्तकालय खुले और एक वक्त इसने प्रतिष्ठित आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को 2000 पुस्तकें प्रदान की थीं।

लेकिन इससे यह समझना गलत होगा कि इस प्रेस को अपने प्रकाशनों से बहुत मुनाफा हुआ करता था। कुरान का प्रकाशन करते हुए मुंशीजी ने उस पर एक टिप्पणी लिखी थी कि उसे मुसलमान मर्दों व औरतों के फायदे के लिए छापा गया है और इसमें प्रेस के फायदे व पद का कोई लालच नहीं है। तथ्य बताते हैं कि 92 वर्षों की जीवनयात्रा में 'अवध अखबार' को छोड़कर किसी भी प्रकाशन से इसको कोई फायदा नहीं हुआ। फायदा होता था सरकारी कागजात और पाठ्य पुस्तकों की छपाई से। यह सारा सरकारी काम अवध के चीफ कमिश्नर सर राबर्ट मांटगोमरी और लखनऊ के कमिश्नर व सुपरिंटेंडेंट कर्नल साइंडर्स ए. ऐबट से मुंशीजी की दोस्ती के कारण मिल जाता था। इन अधिकारियों से मुंशीजी की दोस्ती उनकी लाहौर में तैनाती के समय से ही चली आ रही थी।

मुंशी प्रेमचंद की मानें तो देश में नवलकिशोरजी का प्रेस ही एक ऐसा था, जिसने पहले पहल हिन्दी में पुस्तक प्रकाशन का काम शुरू किया और पुस्तकों को गांव-गांव

तक पहुंचाया। इस प्रेस ने ऐसी-ऐसी दुर्लभ पुस्तकें उनकी पांडुलिपियां ढूंढ-ढूंढ व चुन-चुन कर छापीं जिनका पहले सिर्फ नाम सुना जाता था और जो लोगों की आंखों से लगभग ओझल थीं। उन दिनों सस्ती, विविध और व्यापक विषयों से संबंधित नए व पुराने ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें उपलब्ध कराकर गुलामी का कहर झेल रहे देशवासियों को अपने समय व इतिहास से परिचित कराना एक बड़ी सेवा थी। इस सेवा के लिए देश व विदेश में इस प्रेस की कुल उन्नीस शाखाएं कार्यरत

सन् 1871 में इस प्रेस ने इंग्लैंड से एक लाख इक्तीस हजार रुपए का कागज खरीदा था। बाद में छापाखाने की बढ़ती मांग को पूरी करने के लिए मुंशीजी ने लखनऊ में निशातगंज में गोमती के किनारे लखनऊ पेपर मिल स्थापित कर दी थी। इस प्रेस की प्रेरणा से देश भर में 33 पुस्तकालय खुले और एक वक्त इसने प्रतिष्ठित आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को 2000 पुस्तकें प्रदान की थीं।

थीं: लखनऊ, लाहौर, कानपुर, पटियाला, कपूरथला, पटना, गोरखपुर, बंबई, दिल्ली, नागपुर, रायपुर, मुजफ्फरपुर, फैजाबाद, मथुरा, कलकत्ता, इलाहाबाद, जबलपुर, अजमेर और लंदन भी।

पुस्तकों के प्रकाशन के अलावा इसने 'अवध अखबार' का प्रकाशन करके भी देश व समाज की बड़ी सेवा की। मुंशीजी को प्रेस के काम में अंग्रेज अधिकारियों का पूरा संरक्षण जरूर था पर उनका यह उर्दू अखबार अंग्रेजों के अत्याचारों की भरपूरी खिंचाई करता था। मुंशीजी नहीं रहे तो यह कांग्रेस का समर्थक हो गया और इसने कुल 92 वर्ष की उम्र पाई। मुंशी नवलकिशोर के प्रेस की उम्र भी 1950 में बंद होने से पहले इतनी ही थी। 'अवध अखबार' का तंत्र

**इस प्रेस ने ऐसी-ऐसी
दुर्लभ पुस्तकें उनकी
पांडुलिपियां ढूंढ-ढूंढ व
चुन-चुन कर छापीं जिनका
पहले सिर्फ नाम सुना जाता था
और जो लोगों की आंखों से
लगभग ओझल थीं। उन दिनों
सस्ती, विविध और व्यापक
विषयों से संबंधित नए व
पुराने ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें
उपलब्ध कराकर गुलामी
का कहर झेल रहे देशवासियों
को अपने समय व इतिहास
से परिचित कराना एक
बड़ी सेवा थी।**

कितना मजबूत था, इसे जानने के लिए उस कथावत को याद करना होगा जिसमें कहा जाता था कि सूबों और रियासतों में या तो हुकूमत के नुमाइंदे रहते हैं या फिर 'अवध अखबार' के। उत्तर पश्चिम और अवध प्रांत के उर्दू भाषियों को तत्कालीन युग व जरूरत के अनुरूप खबरें देने के साथ सामाजिक बदलाव के प्रति संकल्पबद्ध 'अवध अखबार' के अलावा अवध रिव्यू, लखनऊ टाइम्स, स्टूडेंट्स वर्ल्ड, अवध समाचार, कानपुर गजट, पटियाला अखबार, कपूरथला अखबार और तफरी भी समय-समय पर इसी प्रेस से छपे और दूर-दूर तक फैले।

श्रमिक-मालिक संबंधों में यह प्रेस अपने समय से कहीं आगे था। इस प्रेस ने विभिन्न कर्मचारी कल्याण योजनाओं को लागू करते हुए अपने सेवानिवृत्त कर्मचारियों के लिए पेंशन तक की व्यवस्था की थी। मृत्यु का शिकार होने वाले कर्मियों के परिवारों को

भत्ता दिया जाता था। मुंशी नवलकिशोर ने अपने एक बेटे का विवाह भी अपने एक कर्मचारी की बेटी से ही किया था। मालिक-मजदूर संबंधों में ऐसी समरसता का ही फल था कि मुंशीजी के निधन के बाद सन् 1907 से 1911 के बीच कलकत्ता, पेरिस व ब्रुसेल्स में हुए पुस्तक मेलों में भी इस प्रेस को अनेक पुरस्कार मिले थे।

इस प्रेस द्वारा छापी जाने वाली दुर्लभ पुस्तकों की सूची में एक तरफ तुलसीदास, सूरदास, मीरा, कबीर, वल्लभाचार्य, चरणदास, कालिदास और माघ तो दूसरी तरफ अकबरनामा, जहांगीरनामा, अलिफ लैला, उमराव जान अदा, फतवा आलमगीरी, शिशुपाल वध, कुमारसंभव, भक्तमाल, आल्हखण्ड, बेताल पचीसी और इन्दरसभा जैसी अनेक रचनाएं शामिल हैं। उर्दू, हिन्दी, अरबी, फारसी, संस्कृत, गुरुमुखी, पश्तो, मराठी, बांग्ला, गुजराती, उड़िया और अंग्रेजी की कोई साढ़े पांच हजार पुस्तकें इस प्रेस ने मुंशीजी के जीवनकाल में और आठ हजार पुस्तकें उनके निधन के बाद छापी थीं। वैविध्य की दृष्टि से देखें तो इनमें धर्म, दर्शन, भाषा, व्याकरण, विज्ञान, साहित्य, उपन्यास, किस्से, दास्तान, गणित, इतिहास, कला, संगीत, गायन, कृषि, वाणिज्य, कानून, ज्योतिष और शब्दकोष वगैरह की पुस्तकें थीं। सन् 1860 के आसपास देश भर में हिंदी की चेतना जागी और प्राइमरी से ऊपर की कक्षाओं में उसकी पढ़ाई के लिए पाठ्यपुस्तकों की जरूरत पड़ी तो मुंशीजी ने इसे एक चुनौती की तरह लिया और अपने प्रेस में इन्हें छापकर उपलब्ध कराया। वे हिंदी को तभी से अखिल भारतीय भाषा मानने लगे थे।

अपने अंतिम दिनों में मुंशी नवलकिशोर प्रकाशक के साथ-साथ व्यवसायी, उद्योगपति, लेखक, विद्या व्यसनी, शिक्षा प्रचारक, समाजसेवी, सुधारक और दानवीर के तौर पर भी माने जाने लगे थे। उर्दू के प्रख्यात साहित्यकार अब्दुल हलीम 'शरर' ने लिखा है कि मुंशीजी की बदौलत उन दिनों मध्य एशिया में काशगर व बुखारा और अफगानिस्तान व ईरान तक की फारसी व अरबी की दुर्लभ पुस्तकों की सारी मांग लखनऊ ही पूरी कर रहा था। जैसे कि ज्ञान-विज्ञान के व्यापार की कोई कुंजी उनके हाथ आ गई हो। गालिब ने अपने एक मित्र को पत्र में मुंशीजी को शफीकेमुकर्रम (सम्मानित मित्र) और लुत्फेमुजस्सिम यानी साक्षात् आनंद कहकर संबोधित किया था। उन्होंने लिखा था कि मुंशीजी की सूरत जोहरा (वीनस-सौंदर्य की रोमन देवी) जैसी और सीरत मुश्तरी (वृहस्पति) जैसी है। उन्हें देखकर लगता है कि शुक्र व वृहस्पति एक ही राशि पर हों। उन्होंने जिसका दीवान छापा, उसको आसमान पर चढ़ा दिया। हुस्न-ए-खत से अल्फाज को चमका दिया।

गालिब ने अपने एक मित्र को पत्र में मुंशीजी को शफीकेमुकर्रम (सम्मानित मित्र) और लुत्फेमुजस्सिम यानी साक्षात् आनंद कहकर संबोधित किया था। उन्होंने लिखा था कि मुंशीजी की सूरत जोहरा (वीनस-सौंदर्य की रोमन देवी) जैसी और सीरत मुश्तरी (वृहस्पति) जैसी है। उन्हें देखकर लगता है कि शुक्र व वृहस्पति एक ही राशि पर हों।

सन् 1885 में लुधियाना दरबार में आए अफगानिस्तान के शाह अब्दुरहमन ने उन्हें इल्म का बादशाह बताया और एक शाल और अशरफियां भेंट करते हुए खुदा का शुक्र मनाया था कि उनसे भेंट हो सकी। इसके तीन साल बाद ईरान के शाह भारत आए तो उन्होंने कलकत्ता में एक गोष्ठी में कहा कि उनकी यात्रा के दो ही मकसद हैं— पहला, वायसराय से मिलना और दूसरा, मुंशी नवलकिशोर

श्रमिक-मालिक संबंधों में यह प्रेस अपने समय से कहीं आगे था। इस प्रेस ने विभिन्न कर्मचारी कल्याण योजनाओं को लागू करते हुए अपने सेवानिवृत्त कर्मचारियों के लिए पेंशन तक की व्यवस्था की थी। मृत्यु का शिकार होने वाले कर्मियों के परिवारों को भत्ता दिया जाता था।

से। जर्मन विदुशी डॉ. उल्ट्राइक स्टार्क तो मुंशीजी को पुस्तकों के स्वराज का अधिष्ठाता ही मानती हैं। लेकिन मुंशीजी के बारे में कोई भी चर्चा तब तक अधूरी रहेगी जब तक उनकी निभाई राजनीतिक भूमिका का जिक्र न किया जाए। यों वे जीवन भर कांग्रेस के विरोध में रहे, लेकिन सन् 1888 में सर सैयद अहमद ने जब कांग्रेस को 'हिन्दू संस्था' घोषित कर दिया तो मुंशीजी ने उनसे कहा कि वे कांग्रेस के विरोध को सांप्रदायिक मोड़ देकर हिन्दू-मुस्लिम भेद बढ़ाने से बाज आएं।

19 फरवरी, 1895 को सीने में दर्द की शिकायत के बाद मुंशीजी को हजरतगंज डिस्पेंसरी (लखनऊ) ले जाया गया जहां उनका देहांत हो गया। इलाहाबाद में संगम तट पर उनकी अंत्येष्टि हुई। उसी के साथ एक युग का भी अंत हो गया। 19 फरवरी 1970 को उनकी 75 वीं पुण्यतिथि मनाई गई। उनकी स्मृति में एक डाक टिकट जारी करते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने उनको पुराने व नए ज्ञान के बीच समन्वय का सेतु बताया था और कहा था कि देश और दुनिया की कई भाषाएं उनकी ऋणी हैं।

श्री कृष्णप्रताप सिंह ने लंबे समय तक फैजाबाद के एक प्रतिष्ठित अखबार में काम किया है। अब स्वतंत्र रूप से सामाजिक विषयों पर लिखते हैं।



जल का भंडारा

मनीष राजनकर

अकाल की पदचाप सुनाई देने लगी है। पानी के अकाल के साथ-साथ इंसानियत के अकाल की खबरें भी अखबारों में आने लगी हैं। इस अकाल को और ज्यादा भयानक बनाने के लिए महाराष्ट्र राज्य की सरकार ने पहले से ही कमर कस ली थी! सन् 2003 में महाराष्ट्र राज्य की जलनीति तैयार हुई थी। इस नीति में पानी के इस्तेमाल का क्रम बदल डाला था। केंद्र सरकार की नीति में पहली प्राथमिकता पीने के पानी की, दूसरी खेती की और उसके बाद उद्योगों की रखी गई है। पर महाराष्ट्र सरकार ने इस क्रम को बदल कर पहली प्राथमिकता पीने के पानी को दी, दूसरी उद्योगों को और उसके बाद अंतिम खेती को।

बात यहीं तक सीमित नहीं थी। महाराष्ट्र जल क्षेत्र सुधार कार्यक्रम के अंतर्गत सन् 2005 में दो कानून बहुत आनन फानन में बना दिए गए थे। पहला था महाराष्ट्र जल नियामक प्राधिकरण अधिनियम और दूसरा सिंचाई में किसानों की सहभागिता अधिनियम। पहले कानून का आधार लेकर महाराष्ट्र में जल नियामक प्राधिकरण की स्थापना की गई। प्राधिकरण पानी की दरों को तय करेगा, जल वितरण करेगा और जल संबंधी विवादों का निपटारा भी वही करेगा अब। ये सारे काम अब तक शासन करता था। अब तीन लोगों का प्राधिकरण इन कामों को करेगा। प्राधिकरण ने पहले काम की शुरुआत भी बड़ी जल्दी कर दी यानी पानी के दरें तय करना। बड़े पैमाने पर पानी के इस्तेमाल के लिए किस तरीके से दरें तय हों यह बताने के लिए ए.बी.पी. इन्फ्रास्ट्रक्चर प्रा. लि. नामक कंपनी को टेंडर निकाल कर नियुक्त किया गया। जल संपदा विभाग ने जो आंकड़े उपलब्ध कराए, उनके आधार पर इस कंपनी ने अगले तीन साल की जल दर पर एक प्रस्ताव तैयार किया। इसे उन्होंने 'दृष्टि निबंध' नाम दिया। इस विषय को जनता के बीच लाकर उस पर उसकी भी मोहर लगावाने की तैयारी की। प्रदेश

के विभिन्न इलाकों में जन सुनवाईयां हुईं। लोगों ने बढ़ चढ़कर अपनी बात प्राधिकरण के सामने रखी। इसके बाद बताया गया कि लोगों की सलाह से दृष्टि निबंध में कुछ बदलाव किए गए हैं। अब प्रदेश में इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जा रहा है।

इस नीति और कानूनों के जरिए जो जल प्रबंधन होगा उसकी भी शुरुआत हो चुकी है। कुछ समय पहले चंद्रपुर जिले के ताडोबा के जंगलों में कोयला खदानों का मुद्दा काफी सुर्खियों में रहा था। इसी क्षेत्र में कई सालों से ऊर्जा नगर ताप बिजली घर चल रहा है। इसकी पानी की जरूरत पूरी करने के लिए ईरई नदी पर बांध बना है। पिछले वर्ष बरसात की कमी की वजह से यह बांध भर नहीं पाया था। अब बिजली निर्माण का संकट सामने था। तो चारगांव बांध, जो

लेकिन इसी महाराष्ट्र में एक ऐसा भी इलाका है जो अकाल को अपने गांव की सीमा के बाहर ही रखता है। पानी सहेजने की एक लंबी सामाजिक परंपरा निभाते हुए यह अपनी गुमनामी में भी मस्त रहता है।

खेतों की सिंचाई के लिए बना था, उसमें पीने के पानी को छोड़कर जो भी अतिरिक्त जल उपलब्ध था, उसे बिजलीघर प्रशासन को 4.2 करोड़ रुपए में बेच दिया। साथ में यह भी बताया गया कि यह निर्णय महाराष्ट्र की नई जल नीति के अनुकूल ही लिया गया है।

लेकिन इसी महाराष्ट्र में एक ऐसा भी इलाका है जो अकाल को अपने गांव की सीमा के बाहर ही रखता है। पानी सहेजने की एक लंबी सामाजिक परंपरा निभाते हुए यह अपनी गुमनामी में भी मस्त रहता है। विदर्भ क्षेत्र के पूर्वी भाग में दो जिले हैं भंडारा और गोंदिया। गोंदिया अलग जिला बनने से

पहले भंडारा जिले में ही सम्मिलित था। यह भंडारा जिला गोंड राजाओं के शासन काल में चांदा (आज का चंद्रपुर) देवगढ़ और मंडला के राज्यों में बंटा हुआ था। घने जंगल से व्याप्त इस क्षेत्र पर राज करते हुए राजाओं ने यहां गांव बसाने वाले व्यक्तियों को उस गांव की जमीनदारी और तालाब बनाने वाले व्यक्तियों को उस तालाब से सिंचित होने वाली जमीन देने के फरमान जारी किए थे। इसके कारण यहां उस दौर में नए-नए तालाब बनाने के कामों में खूब गति आई। तालाब तो यहां बसाने वाले लगभग सभी लोगों ने बनाए थे। पर पानी को रोकने की तकनीक और बाद में उसके प्रबंधन की सुंदर व्यवस्था बनाने के लिए मुख्य रूप से कोहली समाज के योगदान को यहां विशेष सराहा जाता है।

कोहली समाज तालाब बनाने के काम में माहिर समझा जाता था। पानी के काम की योजना बनाना, उसे क्रियान्वित करना और फिर पीढ़ी दर पीढ़ी उसका सुंदर प्रबंध करना इसकी खासियत रही है। चांदा के गोंड राजा इस कोहली समाज को पंद्रहवीं सदी में उत्तर से यहां लाए थे। ऐसी धारणा है कि राजा यात्रा पर देश के उत्तरी भाग में गए थे। वहां पानी के प्रबंधन को जानने वाले इस समाज को देखकर, उन्होंने इन किसानों को अपने राज्य में आने का न्योता दिया। राजा के न्योते को स्वीकार करके ये लोग यहां आए और उन्होंने इस क्षेत्र में जहां-जहां तालाब बनाना संभव था, वहां-वहां अनेक सुंदर छोटे-बड़े तालाब बनाए। कोहली समाज में जो व्यक्ति ज्यादा तालाब बनाता या जिसका सबसे बड़ा तालाब होता था, उस व्यक्ति का समाज में स्थान ऊंचा हो जाता था। कोहली लोगों के अलावा तालाब बनाने में यहां पहले से बसा गोंड और पोंवार समाज भी पीछे नहीं था। इस तरह भंडारा पानी का काम करने वाले उत्तम लोगों का भंडार बन गया था।

तालाब के लिए जगह का चयन करना, पाल की उंचाई तय करना— ऐसे काम होने के बाद तालाब बनाने का काम शुरू होता था। इस काम में आसपास के सभी लोगों की मदद ली जाती थी। गोंड राजा का नियम था: तालाब बनाने वाले को उससे सिंचित होने वाली जमीन खुद कास्त के रूप में दे दी जाती थी। लेकिन वह व्यक्ति भी सारी जमीन अपने पास नहीं रखता था। जिन लोगों ने तालाब बनाने में उसकी मदद की है, उन्हें भी उस सिंचित जमीन में से हिस्सा मिलता था। उस दौर में लोगों ने जो तालाब बनाए उन्हें पांच किस्मों में वर्गीकृत किया। यह वर्गीकरण तालाब के आकार के आधार पर है।

भंडारा में सबसे बड़े आकार के तालाब को बांध कहते हैं। ऐसे तालाब एक से ज्यादा गांवों की सिंचाई करते हैं। इन दो जिलों में आज भी ऐसे चार बांध हैं। एक बार फिर याद कर लें कि इतना विशाल काम अंग्रेजों के आने से,

कोहली समाज तालाब बनाने के काम में माहिर समझा जाता था। पानी के काम की योजना बनाना, उसे क्रियान्वित करना और फिर पीढ़ी दर पीढ़ी उसका सुंदर प्रबंध करना इसकी खासियत रही है। चांदा के गोंड राजा इस कोहली समाज को पंद्रहवीं सदी में उत्तर से यहां लाए थे। ऐसी धारणा है कि राजा यात्रा पर देश के उत्तरी भाग में गए थे। वहां पानी के प्रबंधन को जानने वाले इस समाज को देखकर, उन्होंने इन किसानों को अपने राज्य में आने का न्योता दिया।

आधुनिक सिंचाई विभाग बनने से पहले का है। दूसरा प्रकार गांव तालाब, या तालाब कहलाता है। ऐसे तालाब एक ही गांव के लिए बनते थे। एक से ज्यादा तालाब भी एक गांव में होते हैं। भंडारा जिले में हर गांव में नौ तालाब का औसत है। डोंगरी बुद्रुक गांव में 52 तालाब हैं तो आष्टी गांव में तो 76 तालाब हैं। सिंचाई के अलावा पशुओं को पानी पिलाने और गांव के रोजमर्रा के कामों में निस्तारी में गांव तालाब का उपयोग होता है।

गांव के तालाब का पानी भले ही खेत में आता हो, कहीं-कहीं चार-पांच

**बड़े तालाब का पानी
नहरों द्वारा दिया जाता है।
अपनी बारी आने से पहले
यदि फसल को पानी की जरूरत
है और अगले एक दो दिन
बाद पानी मिलने वाला है तो
ऐसे संकट के समय कुटन के
पानी को बाकी बंधियों में
चला कर फसल बचाने के
काम में लाया जाता है। बड़े
तालाब का पानी मिलने पर
फिर से कुटन को भर लिया
जाता है।**

किसान मिलकर अपने खेत में ही एक छोटा-सा तालाब बना लेते थे। इस तरह उन्हें गांव के तालाब के साथ-साथ अपने तालाब का पानी भी मिलता था। सामाजिक जिम्मेदारी में निजी जिम्मेदारी का संगम हो जाता था। स्वावलंबन का यह एक बारीक उदाहरण था। ऐसे तालाबों को बोडी कहा जाता है। बोडी का चलन बड़े पैमाने पर होता था। आज भी बोडी लगभग हर गांव में हैं और इतने तालाब होते हुए भी अगर कोई खुद के लिए तालाब बनाता है तो अधिकांश बोडी ही उसकी पसंद होती है। इस क्षेत्र में धान का उत्पादन मुख्य फसल के रूप में किया जाता है। पहले, खेत के किसी कोने में रोपे उगाते हैं और बाद में पूरे खेत में इन्हें रोपा जाता है। रोपे उगाने

के लिए किसान गांव तालाब के पानी का इस्तेमाल नहीं करते। सब अपनी-अपनी बोडी का पानी इस काम में लेते हैं। चार महीने के वर्षा काल में बोडी में फिर से पानी आ जाता है। वर्षा के बाद जब बोडी का पानी खत्म हो जाता है, तब बोडी के पेट में गेहूँ या चना बोया जाता है। वहां उस संचित नमी में बिना किसी अतिरिक्त सिंचाई के अच्छी फसल हो जाती है।

अब देखें यहां का चौथा तरीका। धान के खेतों में समतल जमीन के हिसाब से अलग-अलग बंधियां बनाई जाती हैं। इन बंधियों में जो बंधी खेत की सबसे ऊंची जगह पर है, उस बंधी में वर्षा का पानी इकट्ठा किया जाता है। इस विशेष बंधी को कुटन कहते हैं। यहां पानी तो जमा करते ही हैं, बाद में फसल भी बोते हैं।

बड़े तालाब का पानी नहरों द्वारा दिया जाता है। अपनी बारी आने से पहले यदि फसल को पानी कि जरूरत है और अगले एक दो दिन बाद पानी मिलने वाला है तो ऐसे संकट के समय कुटन के पानी को बाकी बंधियों में चला कर फसल बचाने के काम में लाया जाता है। बड़े तालाब का पानी मिलने पर फिर से कुटन को भर लिया जाता है। आज कृषि विकास की चालू भाषा में जिसे फसल बीमा कहा जाता है— वैसी तमाम योजनाएं यहां इन खेतों में बेमतलब की हैं।

यदि खेत में पानी ज्यादा हो जाए तो उसे बाहर भी निकालना पड़ेगा। पानी को बाहर निकालने की जो जगह होती है, वहां एक छोटा गड्ढा बनाया जाता है। खेत के निचले हिस्से में बने इस गड्ढे को डोब कहते हैं। अतिरिक्त पानी बाहर निकालते समय इस डोब को भर लेते हैं। अगर कभी पानी की कमी की वजह से फसल में थोड़ा पानी कम पड़ रहा हो तो डोब के पानी को इस्तेमाल में लाते हैं। अन्यथा वह भरा रहता है। छोटी मछलियां भी डोब में पलती हैं।

इस तरह इस क्षेत्र में तालाबों के माध्यम से गांव में गिरने वाली पानी की हर बूंद को रोकने का प्रयास लोगों ने वर्षों से किया है। पानी को न सिर्फ रोका गया बल्कि तालाब, पाट (नहर) और येवा (आगौर) के रखरखाव का पुख्ता इंतजाम भी किया जाता रहा है। येवा से तालाब में आने वाले पानी के रास्तों को साफ रखना, तालाब में आने वाली गाद निकालना, हर साल पानी इस्तेमाल करने से पहले नहरें साफ रखना— इन सब कामों पर ध्यान रखने के लिए गांव में अपनी एक जल प्रबंधन समिति होती थी। गांव के सब किसान इस समिति के सदस्य होते थे। सब मिलकर पानी का इस्तेमाल करने के नियम बनाते थे। इन नियमों पर अमल करवाने का काम जल प्रबंध समिति का होता था। यह परंपरा आज भी कई हिस्सों में जारी है।

समिति के सदस्य तालाब में कितना पानी है, यह देखकर, हर खेत में कितने समय तक पानी देना है इसे तय करते हैं। निश्चित समय के अनुसार तालाब का तुडूम (पानी छोड़ने का द्वार) खोलने, नहरों की साफ-सफाई, नहर

समिति के सदस्य तालाब में कितना पानी है, यह देखकर, हर खेत में कितने समय तक पानी देना है इसे तय करते हैं। निश्चित समय के अनुसार तालाब का तुडूम (पानी छोड़ने का द्वार) खोलने, नहरों की साफ-सफाई, नहर फोड़कर खेत में पानी छोड़ने के लिए, पाणकर की नियुक्ति की जाती है। पाणकर एक बड़ा विशेष पद होता है इन गांवों में।

फोड़कर खेत में पानी छोड़ने के लिए, पाणकर की नियुक्ति की जाती है। पाणकर एक बड़ा विशेष पद होता है इन गांवों में। पानी वितरण की यह महत्वपूर्ण जिम्मेदारी आज की तरह सरकारी ढंग से नहीं की जाती थी इसमें आत्मीयता और अनुशासन दोनों का पूरा ध्यान रखा जाता था। यह जिम्मेदारी आम तौर पर किसी भूमिहीन व्यक्ति को ही दी जाती थी क्योंकि पानी के बंटवारे में उस व्यक्ति का कोई निजी स्वार्थ नहीं होगा। फसल निकलने पर सभी किसान पाणकर को तय

किया हुआ हिस्सा देते थे। वह भूमिहीन पाणकर दीन-हीन नहीं होता था। पानी के बंटवारे में उसका निर्णय अंतिम होता था। यह प्रथा दक्षिण में भी बहुत मजबूत रही है।

गांव में जिनके पास जमीन नहीं है या जिनके खेतों में तालाब का पानी नहीं पहुंच पाता ऐसे लोग खस की जड़ें खोदने का काम करते थे। हर गर्मी के मौसम में ये जड़ें बिक जाती थीं। इस तरह उन परिवारों को भी आमदनी हो जाती थी जिनके पास जमीन नहीं है या जमीन है पर उनके खेतों तक तालाब की नहरों से पानी नहीं पहुंच पाता।

हर तीन या चार साल में तालाब से गाद निकालने का काम किया जाता था। इस काम में गांव के सभी किसान और तालाब से लाभ लेने वाले लोग शामिल होते थे। इस गाद का खेत में खाद के रूप में इस्तेमाल होता था। गाद निकालने का काम तय न होने पर किसान को खाद के रूप में गाद की जरूरत हो तो समिति को सूचना देकर वह गाद ले सकता था।

नहर साफ करने के काम में हर किसान के घर से लोग जाते थे। अगर किसी मजबूरी से कोई नहीं जा पाता तो वह समिति को सूचित करता था। समिति फिर उसके बदले दूसरे

लोगों को काम पर लगाती और न आ सकने वाले व्यक्ति से कुछ राशि ले कर इन्हें पारिश्रमिक देती थी।

गांव के नियमों को तोड़कर अगर कोई तुड़ूम खोलता है, या पानी शुरू है ऐसे वक्त नहर फोड़ता है तो समिति उस व्यक्ति को दंडित करती थी। उस व्यक्ति की फसल का पानी रोक दिया जाता या उस वर्ष अगर उसे पूरा पानी मिल चुका है तो अगले साल उसे पानी न देने का फैसला लिया जाता था। समिति के सभी सदस्यों की बैठक में लिया गया ऐसा निर्णय अंतिम होता था।

जब समाज खुद जल प्रबंध करता है तो कितनी बारीकी से छोटी-छोटी बात का ध्यान रखता है यह भी देखें। पानी के रास्ते साफ रखना, तालाब गहरा करना, नहरों की मरम्मत करना इन कामों के अलावा बहुत-सी अन्य बातों पर भी ध्यान दिया जाता था। तालाब में जमा हुए पानी के किनारों पर खस लगाई

जाती थी। खस की जड़ें येवा से पानी के साथ बह कर आने वाली मिट्टी को रोकने का काम करती थीं। इसके अलावा गांव में जिनके पास जमीन नहीं है या जिनके खेतों में तालाब का पानी नहीं पहुंच पाता ऐसे लोग खस की जड़ें खोदने का काम करते थे। हर गर्मी के मौसम में ये जड़ें बिक जाती थीं। इस तरह उन परिवारों को भी आमदनी हो जाती थी जिनके पास जमीन नहीं है या जमीन है पर उनके खेतों तक तालाब की नहरों से पानी नहीं पहुंच पाता। खस गांव के उन परिवारों को भी तालाब से बांधे रखती थी, जिन तक उसका पानी नहीं पहुंच पाता था। लेकिन खस की खुदाई कभी ऐसे नहीं की जाती थी जिससे येवा से आने वाला पानी सीधे तालाब में पहुंचे। ये खुदाई हमेशा आड़े पट्टे में होती थी। पिछला हिस्सा एक साल खोदा तो अगला हिस्सा दूसरे साल। इससे पानी का अटकाव होता था। खस की जड़ों द्वारा हर साल पानी के साथ आने वाली नई मिट्टी को रोकने का काम चलता रहता था। फिर भी लोग, हर तीन चार साल में तालाब से गाद निकालते ही थे।

गर्मी के मौसम में पानी भाप बन कर उड़ न जाए, उस औसत को कम करने के लिए तालाब में कमल का जाल फैलाया जाता था। इससे ठंडक बनी रहती है और पानी भी ज्यादा समय तक साथ देता है। कमल के कंद (कमल ककड़ी) का उपयोग मछलियों द्वारा तो होता ही है, लोग भी इनका इस्तेमाल सब्जी, अचार की तरह करते हैं। खस निकालने और मछली पालन से जुड़े लोग कमल कंद निकाल कर इसे भी ठीक दाम पर बेच लेते हैं। कमल कंद की सब्जी बना कर खाने के अलावा इसका औषधीय उपयोग भी है। बाजार में इसकी मांग होती है। इसके अलावा कचर कंद, घोड़ी फुट्ट्या नामक और भी कई कंद हैं जो तालाब से निकाल कर यहां के बाजारों में बेचे जाते हैं। खस के अलावा तालाब के किनारे उगाई जाने वाली घास की और भी कई किस्में हैं जिनकी जड़ों का या पत्तियों का उपयोग होता है।

तालाब के जितने भी उपयोग होते हैं उनमें खेती के बाद सबसे फायदेमंद मछली पालन है। भंडारा जिले के लगभग सभी गांवों में डीमर समाज पाया जाता है जो परंपरा से मछली पालन का काम करता रहा है। डीमर समाज के साथ कम जमीन वाले किसान और भूमिहीन भी मछली पालन के काम से जुड़े हैं।

तालाब की कोई भी चीज ऐसी नहीं जो गांव में सिर्फ किसी एक ही काम में आती हो। तालाबों की पाल पर आम और महुआ के पेड़ लगाए जाते थे। ये पेड़ आज भी पाल को मजबूती तो दे ही रहे हैं, साथ-साथ लोगों का यह भी कहना है कि इनकी वजह से बंदर और पक्षी खेतों में कम नुकसान करते हैं। फसल के बजाए वे इन पेड़ों की ओर आकर्षित होते हैं।

तालाब से लाभ लेने वाले सभी लोग बदले में तालाब के रखरखाव और मरम्मत आदि के कामों में शामिल होते थे। तालाब गांव के सब परिवारों से जुड़े तभी तो गांव के सब परिवार तालाब से जुड़े रह सकते हैं।

जीवनयापन के इन प्रत्यक्ष संबंध के अलावा इस क्षेत्र में तालाब के अप्रत्यक्ष लाभ भी लोगों को मिलते हैं। पशुओं के लिए पानी की व्यवस्था होने से पशु पालन का काम भी खूब होता है। यहां लगभग 350 सालों से तालाब बड़ी तादाद में बनते आ रहे हैं। इन तालाबों में शीत ऋतु में आने वाले मेहमान पंछी भी बड़ी संख्या में हर साल आते हैं। ये पंछी पानी में पनपने वाले ऐसे कई जंतुओं को नष्ट करते हैं जो पानी के माध्यम से खेत में पहुंच कर फसल को भारी नुकसान पहुंचा सकते हैं। इन पंछियों की बीट पानी के माध्यम से खेतों में पहुंचती है जो उम्दा खाद का काम करती है।

तालाब के साथ-साथ, उसके परिसर में पनपने वाले हर जीव का पानी के साथ ताना-बाना होता है। इन संबंधों को बड़ी बारीकी से लोगों ने समझा है। इनके आपसी संबंधों के आधार पर प्रकृति का जो समरस वातावरण बनता है, उसी पर लोगों का सुंदर जीवन निर्भर है। कभी भी तालाब के किसी एक तरह के उपयोग से ज्यादा पा लेने पर बहुत जोर नहीं दिया जाता है, क्योंकि कल के लिए भी उसे बचाना है। ऐसे ही स्वदेशी विचारों ने इस व्यवस्था को वक्त के लंबे सफर में बचाए रखा है।

लेकिन बदलाव तो प्रकृति का नियम है। चाहे कोई व्यवस्था अच्छी हो या बुरी, वक्त के साथ कुछ बदलाव तो आएगा ही। कभी यह बदलाव प्रकृति खुद लाती है तो कभी हम उसे बदलाव लाने पर मजबूर कर देते हैं। या कभी हम अपने आपको प्राकृतिक संसाधनों का मालिक समझ कर अपनी इच्छा अनुसार बदलाव लाते हैं। ऐसा ही कुछ भंडारा में भी हुआ है। स्वतंत्रता के बाद पानी के सामलाती होने को नकार कर इसे राष्ट्रीय संपत्ति माना गया। इस संपत्ति के रखरखाव के लिए कोई देखभाल करने वाला भी होना चाहिए, सो जल संपदा विभाग को यह जिम्मेदारी सौंपी गई। लोगों के बनाए हुए तालाब रातों-रात सरकारी बन गए। यही हाल जंगलों का भी हुआ। हर काम के लिए एक विभाग बन गया। खेती के लिए अलग, मछली के लिए अलग, पानी के लिए अलग, जंगल के लिए अलग। इन सभी विभागों ने अपने-अपने तरीके से काम शुरू किया। कृषि विभाग बाकी सभी बातों को छोड़कर हरितक्रांति में जुट गया। मछली विभाग भला कैसे पीछे रहता। उसने भी नीलक्रांति करने की ठानी। जंगल विभाग तो जंगलों में जाने वाले सभी लोगों को चोर समझकर जंगलों की सुरक्षा करने में डट गया। उधर सिंचाई विभाग अपने आपको पानी के स्रोतों का मालिक

समझ कर हर एक से कीमत कैसे वसूली जाए, इसी फिराक में लग गया। नई व्यवस्था की इमारत पूरी तैयार होने से पहले ही खंडहर में तबदील होने लगी है।

हमारे गांव और लोग यह समझ नहीं पा रहे हैं कि पानी के प्रबंध में तो सभी काम गांव के स्तर पर हो जाते थे, निर्णय भी गांव में ही होता था। आज जल प्रबंध से जुड़े सारे पहलुओं को टुकड़ों में बांटने के बाद यह काम कैसे हो पाएगा? जंगल विभाग ने अपनी सीमाओं पर गहरे और चौड़े ट्रेंच खुदवाकर जंगल को बचाना शुरू कर दिया पर तालाब का जो येवा, आगोर जंगल में है, उससे तालाब में आने वाला पानी अब इन गहरी नालियों से दूसरी तरफ मोड़ दिया गया है। अब अगर तालाब में पानी ही कम आता है तो किसानों के लिए उसे खेत में लें या फिर मछली पालन के लिए तालाब में ही रहने दें? जंगल से पानी के साथ जमीन पर पड़े सूखे पत्ते तालाब में सड़ते थे। इस तरह तालाब के पानी में पनपने वाले पौधों को बढ़ने के लिए खूब अच्छा पोषक वातावरण तैयार होता था। अब पानी नालियों से गया तो साथ-साथ यह जैविक कचरा भी हमारे तालाब के हाथ से चला गया। इसका मतलब है कि तालाब के पानी में अब कीमती पौधों की कमी होगी।

इससे क्या फर्क पड़ता है यह समझने की कोशिश करते समय मेरे एक ठीमर साथी पतिराम ने बताया कि एक थाली में पानी लेकर धूप में रखो। दूसरी थाली में पानी में थोड़ा घास पत्ती का कचरा डालो और उसे भी धूप में रखो। देखो क्या फर्क पड़ता है। बात यहीं नहीं रुकी। मछली विभाग ने तालाबों में मछली की पैदावार बढ़ाने के लिए ज्यादा तेजी से बढ़ने वाली प्रजातियां तालाबों में डालीं। ये सारी प्रजातियां शाकाहारी हैं। तालाबों में पाई जाने वाली स्थानीय मछलियों की प्रजातियां हैं मांसाहारी। तो स्थानीय प्रजातियां उत्पादन को बढ़ाने वाली प्रजाति की दुश्मन बन गईं।

मछली विभाग ने तुरंत इन दुश्मनों को खत्म करने के आदेश दे दिए। शाकाहारी मछलियां जब सदियों से पनप रहे पौधों से लबालब तालाब में पहुंचीं तो उन्हें खाने को खूब मिला और एक ही साल में अच्छी पैदावार हुई। लोगों ने

मछली विभाग ने तालाबों में मछली की पैदावार बढ़ाने के लिए ज्यादा तेजी से बढ़ने वाली प्रजातियां तालाबों में डालीं। ये सारी प्रजातियां शाकाहारी हैं। तालाबों में पाई जाने वाली स्थानीय मछलियों की प्रजातियां हैं मांसाहारी। तो स्थानीय प्रजातियां उत्पादन को बढ़ाने वाली प्रजाति की दुश्मन बन गईं। मछली विभाग ने तुरंत इन दुश्मनों को खत्म करने के आदेश दे दिए।

देखा की वास्तव में ये प्रजातियां तो अपनी स्थानीय मछलियों से बहुत ज्यादा तेजी से बढ़ती हैं तो दुश्मन बनी अपनी ही मछलियों को खत्म कर दिया गया। अब पिछले 25-30 सालों से इन मछलियों के लगातार उत्पादन ने तालाबों में जो पौधे थे, उनको खा कर खत्म कर दिया है। अब ज्यादा उत्पादन देने वाली रोहू, कतला, मृगल, कार्प, सायप्रीनस प्रजातियां जो पहले साल भर में दो से ढाई किलो होती थीं, अब मुश्किल से दो सौ ग्राम तक पहुंच पाती हैं। हम अपनी मछलियों को खो बैठे और अब ये नई मछलियां भी जा रही हैं। अन्न की उपलब्धता में कमी आने से गुणवत्ता भी कम हुई है। स्थानीय मछलियों को ज्यादा पसंद किया जाता रहा है, उनकी मांग भी है, उनकी कीमत भी नई प्रजाति की मछली से तिगुनी है। पर उन्हें तो हमने ही खत्म कर दिया।

यह स्थिति धीरे-धीरे सभी गांवों और तालाबों की होती जा रही है। खंडहर बनती जा रही अलग-अलग विभागों की व्यवस्था ने यहां लोगों को फिर से पानी की एक व्यवस्था की तरफ सोचने को मजबूर कर दिया है।

इसके कुछ कारण और भी हैं। पिछले दो सालों में वर्षा पूरी तरह से बरसी नहीं है। जितनी भी बूंदें गिरीं, वे सारी किसी न किसी तालाब में पहुंच ही गईं। इन बूंदों ने फसलें भी पकाईं, मछलियों को भी पाला, अपने इर्द-गिर्द हरियाली भी बनाए रखी। दूसरी वास्तविकता सरकार के आंकड़े ही बता देते हैं। विदर्भ क्षेत्र के ग्यारह जिलों में विकास का अनुशेष (बैकलॉग) कुछ हजार करोड़ का है। इसमें सिंचाई क्षेत्र का अनुशेष सबसे ज्यादा है। लेकिन इसी विदर्भ के और भी पिछड़े समझे जाने वाले भंडारा-गोंदिया जिले का सिंचाई का अनुपात महाराष्ट्र राज्य के सिंचाई अनुपात से हमेशा ज्यादा ही रहा है। इतना ही नहीं सिंचाई के मामले में जिस कोल्हापुर जिले का उदाहरण महाराष्ट्र में सबसे अच्छा माना जाता है, उससे भी भंडारा-गोंदिया जिले का सिंचाई अनुपात ज्यादा है।

तो आज एक तरफ हमारे यहां आधुनिक प्रशासनिक तंत्र खड़ा है पर अकाल की पदचाप सुनाई दे रही है। दूसरी तरफ स्वयं सिद्ध और समय सिद्ध गांव की अपनी व्यवस्था की सुरीली स्वर लहरी कानों में फिर से गूंजने लगी है।

लेखक पिछले 20 वर्षों से विदर्भ के अकाल ग्रस्त क्षेत्रों में भंडारा निसर्ग व संस्कृति अभ्यास मंडल के माध्यम से काम कर रहे हैं।



विनोबा: गूंगे का गुड़

अनुपम मिश्र

सचमुच गूंगे का गुड़ हैं हमारे लिए विनोबा। हम उन पर कुछ लिख नहीं सकते। एक तो दो पीढ़ियों की दूरी और फिर कुछ दूरी भौगोलिक भी। जन्म मेरा वर्धा का ही है पर फिर कोई पच्चीस साल के बाद एकाध-दो बार वर्धा आया भी तो सभा-गोष्ठी में उन्हें दूर से ही देखा था। उनके आसपास तब इतने लोग थे कि अपने अपरिचय का बोझ उन पर डालना ठीक नहीं लगा था। इस तरह हमारे मन में विनोबा एक व्यक्ति की तरह नहीं बैठे। वे तो एक विचार की तरह कहीं भीतर पैठते चले गए। और इस संयोग को हम अपना सौभाग्य ही मानते हैं।

विनोबा हमारे लिए व्यक्ति नहीं, विचार बन गए। पर हमारा दुहरा सौभाग्य यह भी रहा कि उनके विचार हमारे लिए शोध का विषय नहीं बना। वह श्रद्धा का विषय बनता चला गया। श्रद्धा में मात्रा का महत्त्व नहीं रह जाता। विचार पढ़ना एक काम है। शोध में उसे लगातार करते जाना है। खोज-खोज कर नए-नए प्रसंग पढ़ना पड़ता है। जो औरों ने नहीं पढ़ा, उसे पढ़कर दूसरों को दिखाना। शायद थोड़ा डराना भी पड़ता है। फिर विचार यात्रा भी एक यात्रा ही है। यात्रा में चलते चले जाना है। उसमें उतार हैं, चढ़ाव हैं, पड़ाव हैं। ऐसी यात्राओं में सब कुछ होता है। बस कई बार मंजिल भर नहीं मिल पाती। तब बड़ी थकान आती है। निराशा आती है।

इस सबसे मुक्ति मिल गई हमें। विनोबा विचार में श्रद्धा बन जाने से। तब हमारे लिए ये विनोबा विचार ध्रुवतारे के समान बन गए हैं। हमें उत्तर दिशा के बदले ठेठ दक्षिण भी जाना है तो उत्तर में स्थिर खड़ा ध्रुवतारा हमें दक्षिण जाते हुए भी आसानी से भटकने नहीं देता।

इस श्रद्धा के कारण हमें जो भी थोड़ा-सा प्रसाद मिला है, उसे हम कई मित्र आपस में बांटते रहते हैं। आज पंजाब में रहने वाले हमारे एक साथी कहने को तो सरकार में क्लर्की का काम करते हैं, पर समय निकाल कर वे अब विनोबा

के विचारों का पंजाबी में अनुवाद करने में लगे हैं। इन लेखों को वे वहां के अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं में भी देते हैं। कभी पंजाब के आतंकवाद में शामिल एक पत्रिका ने भी इन लेखों में ऐसी शक्ति देखी कि उसने भी इन्हें धीरे-धीरे छापना शुरू किया है। उसके पाठकों को भी ये अच्छे लगने लगे हैं।

इसी सरकारी नौकर के हाथ फिर विनोबा की जपुजी पुस्तक लगी। उन्हें लगा कि विनोबा की यह कृति तो पंजाब में लोगों को मिलनी ही चाहिए। बड़ी जुगत से अनुवाद पूरा हुआ है। अब इस मित्र ने देश के एक श्रेष्ठ कलाकार से जपुजी का बहुत ही सादा और आकर्षक मुखपृष्ठ भी बनवा लिया है। इस मित्र की श्रद्धा तो देखिए। उन्होंने तय किया है कि जपुजी की यह पंजाबी टीका बिकेगी नहीं। इसकी कोई कीमत नहीं रखी जाएगी। क्यों? वे कहते हैं कि अनमोल चीजों का भला कोई मोल होता है! और आज के पंजाब में जपुजी की

विनोबा-टीका से अनमोल और क्या होगा?

श्रद्धा में मात्रा का महत्त्व नहीं रह जाता। विचार पढ़ना एक काम है। शोध में उसे लगातार करते जाना है। खोज-खोज कर नए-नए प्रसंग पढ़ना पड़ता है। जो औरों ने नहीं पढ़ा, उसे पढ़कर दूसरों को दिखाना। शायद थोड़ा डराना भी पड़ता है।

हम कुछ साथी छोटी-बड़ी संस्थाओं में काम करते हैं तो कुछ सरकार में, उद्योगों में भी। संस्थाओं और सेवा के क्षेत्र में कुछ करने वालों पर विनोबा ने कहीं बहुत विस्तार से कुछ विचार रखे थे। एक मित्र की मदद से हमें वह सब पढ़ने मिला। हमने उसे ठीक से छाप कर कुछ और मित्रों तक पहुंचाया। एक मित्र को लगा कि इसे तो बहुत से अन्य लोगों तक पहुंचाना चाहिए। अपने खर्च से भी कहना ठीक नहीं होगा, उन्होंने अपने मन से 'संस्थाएं नारायण परायण बनें' पुस्तिका छपवाई। आज

दो वर्ष हो गए हैं। यह सुंदर साफ-सुथरी पुस्तिका न जाने कितने नए हाथों में, न जाने कितने नए मन और दिमागों में घूम रही है। हर संस्था ऐसे काम का एक मूल्य लगाती है। उसे संस्थाओं के मेले ठेलों में बेचती फिरती है। इस मित्र की भावना भी वही अनमोल वाली थी। पुस्तिका पर उनका नाम भी नहीं है। और दाम भी नहीं है। बस विनोबा विचार हैं, आदर से प्रेम से आगे बढ़ाएं।

शायद आज से कोई 35-40 बरस पहले अमेरिका ने 'वॉयजर' नामक एक अंतरिक्ष यान भेजा था। आज की तरह चौबीस घंटे चलने वाले टेलिविजन तो थे नहीं। लेकिन अखबारों में वॉयजर की खूब चर्चा थी। तब बताया गया था कि मानव रहित यह 'वॉयजर' कोई मामूली अंतरिक्ष यान नहीं है। लगभग 35-40 वर्ष तक लगातार गहन अंतरिक्ष में चलते रहने के बाद यह पहली बार हमारे सौरमंडल

को पार कर किसी अज्ञात पड़ौसी सौरमंडल में प्रवेश करेगा। वॉयजर में कभी न गलने, तपने, जलने, सड़ने वाली एक विशेष धातु से बनाया गया ताम्रपत्र जैसा पतरा, टुकड़ा भी रखा गया है। उस पर एक तरफ हमारे इस ग्रह पृथ्वी का वैज्ञानिक भाषा में पूरा पता लिखा है। और दूसरी तरफ एक संदेश भी। विज्ञान की भाषा में ही लिखा गया है कि हम यानी हमारी यह मानव जाति इस ब्रह्मांड में है कहां, कैसे दिखते हैं, हम करते क्या हैं आदि। यह वॉयजर छोड़ा गया था तब अखबारों में छपा था कि हमारे इस नौघर के छोटे-से मोहल्ले में हमारी इस बाड़ी, हमारे सौरमंडल में हमारी पृथ्वी के अलावा तो किसी अन्य ग्रह पर जीवन नहीं है। इसलिए पड़ौसी मोहल्ले के किसी घर तक वॉयजर एक डाकिए की तरह जाएगा। उसका दरवाजा खटखटाएगा। सौभाग्य से यदि किसी ने दरवाजा खोला तो यह डाकिया उसे हमारी यह पाती, हमारा यह संदेश देगा! तो 35-40 बरस पहले छोड़े गए वॉयजर ने जुलाई 2012 में हमारा सौरमंडल पार कर लिया है। पड़ौसी सौरमंडल कितनी दूरी पर है, वहां उसे कब कोई ग्रह, गृह या घर मिलेगा अभी कुछ पता नहीं।

मानव रहित यह 'वॉयजर' कोई मामूली अंतरिक्ष यान नहीं है। लगभग 35-40 वर्ष तक लगातार गहन अंतरिक्ष में चलते रहने के बाद यह पहली बार हमारे सौरमंडल को पार कर किसी अज्ञात पड़ौसी सौरमंडल में प्रवेश करेगा। वॉयजर में कभी न गलने, तपने, जलने, सड़ने वाली एक विशेष धातु से बनाया ताम्र पत्र जैसा पतरा, टुकड़ा भी रखा गया है।

आज विनोबा के लेख में वॉयजर प्रसंग पर यह सब लिखने की भला क्या तुक है? कारण है विनोबा की बस एक पंक्ति, जो उन्होंने ऐसे ही किसी प्रसंग में कभी कही थी। शब्द ठीक याद नहीं। भाव कुछ ऐसा था: मुझे लगता है चींटियां भी हमें रोज ऐसे ही संदेश भेजती हैं। बस। चींटी से ब्रह्मांड तक, सूक्ष्म से विशाल तक, आदि से अंत तक या कहीं अनादि से अनंत तक विनोबा हमें हाथ पकड़ कर बड़े स्नेह से, बिना डराए यात्रा करवाते हैं।

हम छोटे लोगों के मन में विनोबा का कद बहुत ही बड़ा है। हमारे लिए वे इतने बड़े हैं कि इस छोटे से मन में उनका समा जाना उनकी उदारता ही है। हम उन्हें भूदान का नेता ही नहीं मानते। हम उन्हें इस रूप में जानते भी नहीं। केवल उस रूप में उन्हें देखेंगे तो तरह-तरह के आंकड़ों में फंसते जाएंगे। भूमि, जमीन का, माटी का मोह तो कुछ हजारों साल से यहां बना हुआ है। जुलाई 2012 में हुए असम के दंगे, जातीय हिंसा जमीन को लेकर होते चले आ रहे

झगड़ों का एक बहुत ही दुखद हिस्सा है। लोग सुई की नोक बराबर जमीन अपने भाई तक को देने तैयार नहीं होते, बदले में महाभारत जैसा युद्ध कर डालते हैं। हमने विनोबा को भूदान या जमीन के एक टुकड़े तक सीमित कर नहीं देखा है। हमने उनसे मनुष्य के मन में आसमान जैसी विशालता को पहचानने का तरीका सीखा है। उनके 'गुणदर्शन' व अन्य अनेक सिद्धांत तो अद्भुत हैं।

विनोबा पर कुछ लिखना यानी गूंगे का गुड़। हम उसका स्वाद मन में रखते हैं, बता नहीं सकते। बता सकते तो बताते कि एलोपैथी, होम्योपैथी, नेचरोपैथी के बीच विनोबा की सिम्पैथी व्याख्या कैसे काम करती है या वे वेदों के अपौरुषेय होने की कैसी सुंदर व्याख्या करते हैं या आज सब तरफ सब संस्थाओं, सबसे बड़ी से लेकर सबसे छोटी संस्था में उनके गणसेवकत्व की क्या प्रासंगिकता है। एक गूंगा इससे ज्यादा भला क्या बता पाएगा?

विनोबा पर कुछ लिखना यानी गूंगे का गुड़। हम उसका स्वाद मन में रखते हैं, बता नहीं सकते। बता सकते तो बताते कि एलोपैथी, होम्योपैथी, नेचरोपैथी के बीच विनोबा की सिम्पैथी व्याख्या कैसे काम करती है या वे वेदों के अपौरुषेय होने की कैसी सुंदर व्याख्या करते हैं या आज सब तरफ सब संस्थाओं, सबसे बड़ी से लेकर सबसे छोटी संस्था में उनके गणसेवकत्व की क्या प्रासंगिकता है। एक गूंगा इससे ज्यादा भला क्या बता पाएगा?

इसलिए हम कुछ साथियों के मन में विनोबा भूदान के असफल या सफल नेता नहीं हैं। वे हमें एक ऐसा नेतृत्व देते हैं, वे हमें एक ऐसी शानदार जगह पर, एक ऐसी मनस्थिति में ले जाते हैं, जहां असफल, सफल की नहीं, फल तक की बात खतम हो जाती है। अपना काम करो। किसी बड़े लक्ष्य के लिए नहीं। सामने जो आ जाए, उतना काम माथा साफ रख करते चलो। ठीक पानी की तरह बहते चलो। छोटा-सा

गड्ढा सामने आ जाए तो उसे भरो, कुछ बच जाए तो फिर आगे बढ़ो। नहीं तो उस गड्ढे को भर कर ही पूरा संतोष रखो। हमेशा किसी बड़े लक्ष्य तक पहुंचने का संकल्प जरूरी नहीं है। इतनी विनम्रता हमें आ जाए तो शायद बहते-बहते, छोटे-छोटे गड्ढों को भरते-भरते हम में से कुछ में महासागर तक पहुंचने की शक्ति भी आ जाएगी।



रिकार्ड में नहीं, खूंटों पर चाहिए

सागरी रामदास

संयोग से पिछले साल मलेशिया जाना हुआ। सामाजिक कामों में रुचि रखने वाली एक पुरानी संस्था, 'द कंज्यूमर एसोसिएशन ऑफ पेनांग' ने मुझे अपनी एक बैठक में भाग लेने के लिए बुलाया था। यह संस्था चाहती थी कि मैं उसके बीच खेती और पशुपालन को आत्म निर्भर बनाने और किसानों को मशीनी खेती से बचाने के तौर-तरीके पर बातचीत करूं।

बीते चालीस साल के दौरान मलेशिया में उद्योग भयानक गति से बढ़ा है। बढ़ते कल-कारखानों ने कई जगह से खेती और पशुपालन को बिलकुल खदेड़ कर बाहर किया है।

ऐसा माना जाता है कि मलेशिया अपनी जरूरत लायक सूअर और मुर्गी पोस लेते हैं। लेकिन ऐसा है नहीं। यहां का स्वावलंबी-सा दिखने वाला पशुपालन बाहर से लाए चारे और बाहरी नस्ल के भरोसे है। छोटे से छोटे किसान भी अपनी जरूरतों के लिए देशी-विदेशी कंपनियों पर निर्भर हैं। ऐसे किसानों की संख्या बहुत कम है जो देशी नस्ल पालते हैं।

दुर्भाग्य से सरकारी नीतियों ने अपने यहां भी खेती और पशुपालन को इसी रास्ते पर धकेलने का काम किया है।

मलेशिया यात्रा के दौरान हमें पता चला यहां गायों की एक ऐसी प्रजाति है, जिसका नाम ब्राह्मण है। कौन ब्राह्मण यहां आया होगा, किसने इस गाय की प्रजाति का नाम ब्राह्मण रखा होगा— ऐसे सवाल मन में उठने लगे।

एक मित्र की मदद से पुण्यवती के घर जाना हुआ। यहां 'ब्राह्मण' गाय के दर्शन हुए। पुण्यवती तमिल मूल की हैं। कोई दो-तीन सौ बरस पहले अंग्रेज इनके पुरखों को रबड़ की खेती करने यहां तमिलनाडु से ले आए थे। फिर ये परिवार वापिस नहीं गए। पुश्तैनी जमीन के एक छोटे से टुकड़े पर

पुण्यवती खेती और पशुपालन साथ-साथ करती हैं। इनके तबेले में मलेशियाई नस्ल के अलावा कादाहकेलतन और ब्राह्मण जैसे देशी नस्ल भी हैं।

ब्राह्मण तो एकदम से ऑंगोल और गिर जैसी है। एक-सा कद-काठी। कूबड़ भी अमूमन एक-सा। यह गाय यहां कैसे आई होगी? क्या रबड़ की खेती करने लाए गए परिवार इसे अपने साथ लाए होंगे? फिर गाय की दूसरी नस्लें जैसे 'कंगायम' और मलैमाडु क्यों नहीं यहां आई? ऐसे कई सवाल उठ रहे थे।

पुण्यवती तमिल मूल की हैं। कोई दो-तीन सौ बरस पहले अंग्रेज इनके पुरखों को रबड़ की खेती करने यहां तमिलनाडु से ले आए थे। फिर ये परिवार वापिस नहीं गए। पुश्तैनी जमीन के एक छोटे से टुकड़े पर पुण्यवती खेती और पशुपालन साथ-साथ करती हैं। इनके तबेले में मलेशियाई नस्ल के अलावा कादाहकेलतन और ब्राह्मण जैसे देशी नस्ल भी हैं।

फिर मैं मलेशिया के पशुपालन विभाग के दफ्तर गई। यहां मवेशियों के नस्ल की कई तस्वीरें लगी थीं। पोस्टर के बड़े हिस्से में ब्राह्मण गाय की लाल, भूरी और नेल्लूर नस्ल की तस्वीरें एक साथ देखने मिलीं। कमाल की बात थी यह कि फिर यहीं जमनापारी बकरी के भी दर्शन हुए। वहां बैठे मवेशी के एक डाक्टर से मैंने जानना चाहा कि एक तरफ आंध्र के नेल्लूर और दूसरी तरफ उत्तर प्रदेश की जमनापारी की तस्वीर यहां भला एक साथ कैसे? अलबत्ता वह बेचारा भी कुछ खास नहीं बता पाया।

मैंने घर लौटने के बाद इस विषय पर काफी मगजमारी की। फिर पता चला 'ब्राह्मण' नस्ल चार भारतीय नस्लों से तैयार की गई है। कोई डेढ़ सौ बरस पहले अमेरिका ने इसे

गैरवाजिब तरीके से विकसित किया था। इसके लिए उसने कोई 226 सांड और 22 गायों को हमारे यहां से मंगाया था।

हमारे देश की कथा कहानियों में भी ब्राह्मण नस्ल को चार अन्य भारतीय नस्लों के परिवार में रखा गया है। इनमें कांकरेज, गिर और तीसरा नेल्लूर परिवार बताया गया है। चौथी नस्ल गुजरात से है। लेकिन इसका नाम हमारे यहां के पशुओं की सूची में नहीं मिलता है।

इस नस्ल पर और थोड़ी जानकारी जुटाई तो पता चला कि दक्षिण अमेरिका, आस्ट्रेलिया और एशिया के कुछ अन्य देशों में भी इस नस्ल की खासी पूछ है। केवल उत्पादन के हिसाब से ही नहीं बल्कि किसी भी वातावरण में सहज ही रम जाने की काबिलियत भी इसमें खूब है। यह भी

जानकारी हाथ लगी कि इस नस्ल की बिक्री का सबसे बड़ा बाजार आस्ट्रेलिया है।

दुर्भाग्य से अपने यहां ऐसी उपयोगी नस्लों को बचाने की कोई कोशिश नहीं हो रही है। दुनिया के कई देशों में सबसे उम्दा मानी जाने वाली नेल्लूर गाय हमारे देश-प्रदेश में तो लगभग खत्म ही हो चली है। हम तो हॉल्सटीन और जर्सी जैसी बिलायती नस्लों की गायों के पीछे दौड़ रहे हैं। उन्हें बाहर से लाते रहे हैं और अब तो उनको यहीं पर बढ़ावा भी दे रहे हैं।

दूध तो दूध आज दुनिया भर में हमारी नस्लों के सहारे अरबों डॉलर के मांस का कारोबार भी चल रहा है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया और ब्राजील जैसे देश हमारी उन्हीं नस्लों के दम पर मालामाल हो रहे हैं। जो बात हमारे पुरखे कोई हजार साल पहले समझ गए थे, कोई सौ-डेढ़ सौ साल पहले यूरोप और एशिया के लोग भी समझ गए, वह बात आज भी हमारे नुमाइंदे और विशेष ज्ञान का दावा करने वाले वैज्ञानिक नहीं समझ पा रहे हैं। जो रात-दिन अपनी ही नस्ल को खोटा करने में लगे हों, उनसे क्या उम्मीद करें। इन नस्लों पर कॉपीराइट तो दूर की बात है। आप तो इनसे इनकी हिफाजत की उम्मीद भी नहीं कर सकते आज।

पशु खरीदना हो तो किसानों को कर्ज की कुछ सुविधाएं दी जाती हैं। लेकिन वह भी सिर्फ विदेशी प्रजाति की गायों को खरीदने के लिए ही मिलती हैं। हारा-मारा किसान सदा के लिए कर्ज में डूब जाता है।

जिम्मेवार संस्थाओं का काम भी गाल बजाना रह गया है। नेशनल बायोडायवर्सिटी बोर्ड को नस्लों की विविधता खत्म होने का बहुत मलाल है लेकिन उनको बचाने के लिए एक-दो अच्छे विचार भी हों उसके पास— ऐसा बिलकुल नहीं है। पर्यावरण विभाग का सारा समय दिशा निर्देश तय करने और बड़ी-बड़ी बैठकें करने में बर्बाद होता है। करोड़ों-अरबों के सालाना बजट का पासंग मात्र भी यदि ईमानदारी से पशुपालन के लिए खर्च किया जाए तो तस्वीर बदल सकती है।

**जो बात हमारे पुरखे
कोई हजार साल पहले
समझ गए, थे, कोई सौ-डेढ़
सौ साल पहले यूरोप और
एशिया के लोग भी समझ गए
वह बात आज भी हमारे
नुमाइंदे और विशेष ज्ञान
का दावा करने वाले वैज्ञानिक
नहीं समझ पा रहे हैं। जो
रात-दिन अपने ही नस्ल
को खोटा करने में
लगे हों, उनसे क्या
उम्मीद करें।**

हॉल्सटीन, जर्सी, बोर गोट! सचमुच बहुत हो गया। अब अपने को नहीं चाहिए ये सब। अब तो इस पर रोक लगनी ही चाहिए। यह सोचना भी कितना अजीब लगता है कि हमारी अगली पीढ़ी को नेल्लूर की नस्ल अमेरिका, ब्राजील और आस्ट्रेलिया से मंगवानी पड़ेगी। कांजीवरम का रेशम खरीदने भला कोई मैनेज्मेन्ट क्यों जाएगा!

पुनश्च! घर लौटकर इस विषय पर कुछ लिखने का मन हुआ। थोड़ा बहुत लिखा भी। फिर उसे कई जगह भेजा लेकिन वह पूरे आंध्र प्रदेश में किसी भी अखबार, पत्रिका के मतलब का नहीं निकला! कोई दो महीने पहले अखबार पलट रही थी कि एक खबर दिखी। शीर्षक था 'आंध्र को चाहिए ब्राह्मण नस्ल की रॉयल्टी'। जो बात मन में पिछले एक बरस से चल रही थी वह आंखों के सामने थी। इसमें लिखा था, हैदराबाद के कुछ किसान ब्राह्मण नस्ल को खरीदने पनामा जा रहे हैं। कुछ सामाजिक संस्थाएं सरकार से इसकी खरीद करने के लिए अनुमति मांग रही है।

मेरी भविष्यवाणी गलत निकली। जिस बात का अंदेशा आने वाली पीढ़ी के लिए था, वह तो मेरी पीढ़ी के लिए ही लागू होता दिख रहा था। शायद लोग समझ गए थे कि सरकार जो मर्जी करे, अपन को अपना ओंगोल और गिर ही चाहिए। ओंगल, हल्लिकर देओनी, पंढरपुरी असील मुर्गी दक्खनी भेड़ और कांचू भले ही पशुपालन विभाग के रिकार्ड में न मिलें, लेकिन यदि किसान तय कर लें तो ये नस्लें उनके खूटों पर बंधी मिलेंगी।

सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायर्नमेंट की पत्रिका 'डाउन टू अर्थ' से साभार।
हिन्दी प्रस्तुति: प्रभात झा।

लेखिका देसी नस्लों की अच्छी जानकार हैं। हैदराबाद में इसी विषय को लेकर काम कर रही संस्था 'अंतरा' की सह निदेशिका भी हैं।



कबीर का करघा और गांधी का चरखा

रमेश थानवी

कबीर करघे पर कपड़ा बुनते थे। झीनीझीनी चदरिया बुनते थे। ऐसे जतन से बुनते थे कि कोई उसे ओढ़े पर मैली न करे। झीनी भी इसलिए बुनते थे कि उनकी बुनी चदरिया किसी के तन पर बोझ न बने और जो जब चाहे तब छोड़ दे, उतार दे और पार उतर जाए।

कबीर के इस करघे में जो ताने-बाने थे, वे उनकी साधना से बने थे। साधना के साथ उनके तप से बने थे और तप के साथ उनके त्याग से बने थे। घर में लाख तंगी हो मगर कबीर के करघे से उतरा हुआ कपड़ा सिर्फ ऐसे ही दामों में बिकता था कि हर गरीब उसे ओढ़ सके, पहन सके। कबीर को मुफलिसी में रहना मंजूर था मगर मुनाफे की रोटी खाना गवारा नहीं था।

कबीर के इस करघे का तप था कि वह जन-जन का तन ढकता था। कबीर का अपना तन भले अधढका, अधनंगा रहे, मगर कबीर को चिंता औरों की थी। लोक की थी, और लोक-लाज की थी।

कबीर के इस करघे का ताना-बाना कथनी और करनी के मेलमिलाप से बना था। वहां कथनी और करनी में कोई भेद नहीं था। जो किया जा रहा है वही कहा भी जा रहा है और जो कहा जा रहा है वह सिर्फ सच है। ऐसा सच है जो इस जुलाहे ने खुद उघाड़ कर देखा है, स्वयं उद्घाटित किया है। यह ऐसा सच है, जो जानने से पहले कहा गया है और जिसे जानने के लिए खोजा गया है और खोजते हुए उसे पाया गया है। ऐसे और इतने खरे सत्य से और कर्म से बुना गया ताना-बाना जो चादर बनाएगा, वह कैसी होगी इसका अंदाज तो कोई भी सुधी पाठक लगा सकता है।

कबीर जिस करघे से कपड़ा बुनने में तल्लीन थे, उसको बुनने का मुख्य उद्देश्य उनका सत्यान्वेषण था और उनका सत्याग्रह था। कबीर पहले सत्याग्रही थे। गांधी दूसरे।

कबीर के करघे और गांधी के चरखे के बीच एक करीब का रिश्ता है। यह रिश्ता एक-दूसरे का पूरक-परिपूरक रिश्ता है। कबीर के समय और समाज का संकट कुछ ऐसा था कि उनके करघे का सूत अनायास ही रीत गया, खत्म हो गया। जैसाकि समय सबके साथ करता है कबीर के साथ भी हुआ। करघा भी धरा का धरा रह गया और कबीर भी अपनी खुशी से सहसा चल बसे। उनका जाना एक तरह से मृत्यु को वरण करना था। पूरी तैयारी के साथ काशी छोड़ कर वे मगहर चले गए थे और जानते थे कि वहीं उन्हें शरीर छोड़ना है। यह इच्छा-मृत्यु स्वयं कबीर के लिए भले सामयिक रही हो

कबीर के करघे और गांधी के चरखे के बीच एक करीब का रिश्ता है। यह रिश्ता एक-दूसरे का पूरक-परिपूरक रिश्ता है। कबीर के समय और समाज का संकट कुछ ऐसा था कि उनके करघे का सूत अनायास ही रीत गया, खत्म हो गया। जैसाकि समय सबके साथ करता है कबीर के साथ भी हुआ। करघा भी धरा का धरा रह गया और कबीर भी अपनी खुशी से सहसा चल बसे।

मगर समाज के लिए तो एक बड़ी दुर्घटना थी। उस काल विशेष के एक बड़े सामाजिक सत्याग्रह के आगे विराम लगा देने वाली घटना थी। विराम न भी कहें तो एक लंबा अर्द्ध-विराम तो लग ही गया था।

इस अर्द्ध-विराम को हटाने के लिए एक दूसरे संत का आगमन हुआ। ये संत गांधी थे। उन्होंने चरखे का चयन ही इसलिए किया कि कबीर के करघे का सूत कभी रीते नहीं और उसे निरंतर कता-कताया सूत मिलता रहे। अकेले गांधी नहीं थे जो चरखा कातने लगे थे बल्कि उनके साथ करोड़ों हिंदुस्तानी थे जो चरखा कातने लगे थे। इस चरखे के सूत का अंतर्संबंध भी जन-जन की जरूरत से था।

कबीर भी अधनंगे थे और गांधी भी।

किसी को यह स्वीकार करने में शर्म नहीं आनी चाहिए कि तब तीन-चौथाई देश अधनंगा था। आज भी आधा देश अधनंगा ही है और आधा बेशकीमती कपड़ों के अंबार में दफन हुआ जा रहा है। शर्म आज भी नहीं है। मगर सच्चाई आज की यह है कि आज कोई चरखा नहीं कात रहा है।

गांधी का चरखा कबीर के करघे को बनाए रखने के लिए था। तो कबीर का करघा जन-जन की जरूरत को पूरी करने के लिए था। ऊपर से दिखने में तो यह वस्त्र की जरूरत थी मगर भीतर से देखने में यह जरूरत मानवीय सूत, इंसानी बाने को बनाए रखने की थी। गरज यह थी कि

इंसानी-बाना जस का तस बना रहे और आदमी आदमी से सिर्फ प्रेम करता रहे। जीवन-पर्यंत सिर्फ ढाई आखर सीखता रहे। और फिर इन्हीं ढाई अक्षरों को ताजिंदगी जीता रहे और जीने देता रहे।

गांधी भी इंसानी भेदभाव के खिलाफ थे और इंसानी लिबास की एकरूपता के हिमायती थे। उनके यहां भी जात-पांत को कोई पूछता नहीं था और कबीर के यहां भी जात-पांत का कोई अर्थ नहीं था। गांधी भी सत्य के आलोक में हर हकीकत को देखना चाहते थे और कबीर भी सिवाय सत्य के और कुछ भी जानना जरूरी नहीं समझते थे।

आज मुड़कर के देखें तो लगता है कि गांधी का आना जैसे कबीर के सच को आगे बढ़ाने के लिए जरूरी था। कबीर के करघे और गांधी के चरखे के बीच एक रुहानी रिश्ते को देखने का काम मैं भी अपनी किसी अंतःप्रज्ञा के मार्फत ही कर पा रहा हूं। तर्क शास्त्री यदि कुछ जानना चाहेंगे तो मैं यही कहूंगा कि दोनों के रिश्तों को तर्क से नहीं समझा जा सकता। इसे तो बस प्रेम की पूर्णता से ही जाना जा सकता है।

गांधी भी इंसानी भेदभाव के खिलाफ थे और इंसानी लिबास की एकरूपता के हिमायती थे। उनके यहां भी जात-पांत को कोई पूछता नहीं था और कबीर के यहां भी जात-पांत का कोई अर्थ नहीं था। गांधी भी सत्य के आलोक में हर हकीकत को देखना चाहते थे और कबीर भी सिवाय सत्य के और कुछ भी जानना जरूरी नहीं समझते थे।

मशीन और मिल बनती जा रही, बेहद औपचारिक होती जा रही शिक्षा के बीच श्री रमेश थानवी उसके अनौपचारिक सत्व को, उसके धागे को समाज के सामने रखने में संलग्न हैं। राजस्थान प्रौढ़ शिक्षा संस्था की पत्रिका अनौपचारिका के संपादक हैं। लेख इसी पत्रिका से साभार।



पुराना चावल

चार हजार रिक्त पद

कृष्ण कुमार

हिंदी में छपने वाली पत्रिकाओं की हालत पाठकों से छिपी नहीं है। पाठकों की हालत पत्रिकाओं से नहीं छिपी है। करोड़ों की भाषा पर पढ़ने वाले कुछ हजार। बस। इसलिए पत्रिकाओं की 'बालमृत्यु' दर बहुत ऊंची है। चिरंजीव पत्रिका दूढ़े नहीं मिलतीं। बरसों पहले इसे सुधारने के लिए श्री कृष्ण कुमार ने एक नई मुहिम का प्रस्ताव रखा था। पुराना चावल में उस नई मुहिम को फिर से दुहराने का कारण यही है कि परिस्थिति बदली नहीं है। लगता है वे चार हजार रिक्त पद अभी भी रिक्त ही पड़े हैं। उस प्रस्ताव में आवेदन की कोई अंतिम तारीख नहीं दी गई थी। इसलिए हम इसे फिर से आपके सामने रख रहे हैं।

कुछ दिन पहले अखबारों में एक सुखद किंतु अविश्वसनीय खबर छपी थी। वरिष्ठ कवि कुंवर नारायण ने कहीं यह कहा था कि नब्बे का दशक पत्रिकाओं का दशक है। शीर्षक देखकर मैं चौंका और सावधानी से पूरी खबर पढ़ गया। 'साक्षात्कार', 'कला-प्रयोजन', 'पुरोवाक्', 'वागर्थ' जैसे कुछ नामों की मदद से यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया था कि आजकल गंभीर और विशिष्ट रुचि की कई पत्रिकाएं हिंदी में छप रही हैं। इनमें से यदि सरकारी और अनुदान-प्राप्त पत्रिकाओं को छोड़ दें तो कितनी ऐसी रह जाएंगी जिन्हें हर समय अगले अंक के जुगाड़ में मुश्किल पेश न आ रही हो, यह हिसाब कुंवर नारायण जी ने शायद नहीं लगाया था।

पिछले दिनों इस किस्म का हिसाब दो पत्रिकाओं के संपादकों ने लगाया है। इनमें से एक ने यह हिसाब पत्रिका की आसन्न मृत्यु को देखते हुए लगाया है। दूसरे ने एक नई पत्रिका को जन्म देते हुए लगाया है। इतने भिन्न संदर्भों के

बावजूद हिसाब बहुत अलग नहीं है। साल भर चलाकर 'दूसरा शनिवार' फिलहाल बंद करने की सूचना देते हुए संपादक राजकिशोर ने लिखा है: 'हिन्दी की हालत आज चाहे जितनी गई गुजरी हो, एक-दो विचार पत्रिकाएं चलाना कठिन नहीं है। आवश्यकता उचित संगठन और स्रोतों के समाहार की है, हम इसमें विफल रहे हैं।' उधर रायपुर के जाने-माने अखबार 'देशबंधु' की ओर से 'अक्षर पर्व' नाम के मासिक का प्रकाशन शुरू करते हुए संपादक ललित सुरजन ने लिखा है: कहना न होगा कि मासिक पत्रिका निकालना सरल नहीं है। त्रिलोचन जी ने स्नेहपूर्ण चेतावनी दी कि आर्थिक पक्ष पर भली-भांति विचार कर लेना चाहिए। हम सारे पहलुओं पर गौर करने के बाद 'अक्षर पर्व' मासिक को इस सादे कलेवर में आपके सामने रख रहे हैं। सादा कागज, कम पन्ने, सादा मुखपृष्ठ यानी कम से कम लागत। इस नवजात पत्रिका की सादगी सचमुच डराने वाली है। 'दूसरा शनिवार' का अंतिम अंक देखकर लगता है जैसे किसी असाध्य रोग से जूझते रोगी को अच्छे से अच्छे कपड़े पहना कर बिस्तर पर लिटाया गया है। 'अक्षर पर्व' का पहला अंक देखकर लगता है जैसे महामारी की दहशत में डूबे गांव में रहने वाला एक खाता-पीता परिवार कुछेक लोगों को रोटी-दाल सब्जी के लिए इस तरह बुला रहा है कि किसी की नजर न लग जाए।

एक पत्रिका की मौत हिंदी समाज के लिए कोई खबर नहीं है। खबर जबरन दे दी जाए तो वह कोई प्रतिक्रिया पैदा नहीं करती। लोग जिन चीजों में निमग्न हैं, उन्हीं में निमग्न बने रहते हैं। यह कहना भी भ्रामक होगा कि इस तरह की खबर में लोगों को अपनी भाषा और संस्कृति को लेकर कोई चिंताजनक सूचना नहीं नजर आती। आखिर ऐसे लोग हैं कहां जो हिन्दी को अपनी भाषा के रूप में देखते हैं, उसके साहित्य के कारण अपनी जिंदगी को समृद्ध महसूस करते हैं? यदि ऐसे लोग हैं तो हिंदी लेखकों, संपादकों और प्रकाशकों को उनके पते तक नहीं मालूम। शायद हम सबको एक दिशाहीन यात्रा पर निकल पड़ना चाहिए ताकि हम ऐसे लोगों से मिलने का संयोग पा सकें। यात्रा पर निकल पड़ना कठिन नहीं है। पर यह अभी हमें सोचना है कि ऐसे लोगों से मिलकर हम उनसे क्या कहेंगे। मिलकर उस अतीत की यादों में खो जाना बुरा नहीं होगा जब 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय', 'नवनीत' और क्या-क्या समूचे हिंदी क्षेत्र में नियमित पहुंचता था और उसमें छपी सामग्री हमें एक वैचारिक समुदाय का सदस्य होने का भान कराती थी। पर इस स्मृति-चर्वण से क्या लाभ होगा?

एक और संभावना कारण-गणना में खो जाने की है। यह हमारे समाज का एक अत्यंत लोकप्रिय व्यसन है। आपने किसी समस्या का नाम लिया नहीं कि हम लोग उसके कारणों की सूची दोहराने लगते हैं। सूची-जाप की आदत इतनी

पक चुकी है कि समस्या की प्रवृत्ति, उसका मौजूदा संदर्भ और अन्य चीजों से उसका गठबंधन समझने की गुंजाइश भी यह आदत नहीं छोड़ती। यदि हमें वे लोग मिल गए जिनकी हमें तलाश है और हमने कारण-गणना का सिलसिला शुरू कर दिया तो समय की बर्बादी के अलावा उपचार की खोज का उत्साह भी जाता रहेगा। हिंदी में गंभीर पाठकों की कमी की वजहें इतनी स्थापित और समूचे देश के आर्थिक-राजनैतिक संदर्भों से इस कदर जुड़ी हुई हैं कि उन्हें दोहराकर ऐसा

**इस अंदरूनी हमले से
हिंदी के बचाव के लिए चार
हजार विचारशील पाठक पर्याप्त
हो सकते हैं बशर्ते कि वे
निश्चेष्ट पाठक न हों। 'कुछ
मिल गया तो पढ़ लिया, नहीं
मिला तो कोई बात नहीं' वाली
मनः स्थिति के पाठक हिंदी में
बहुतेरे रहे हैं। उनकी सदाशयता
स्तुत्य है पर आज के हालत के
लिए उपयोगी नहीं है।**

लगाना नितांत स्वाभाविक है कि समस्या अपने आप में लाइलाज है। मामला कुछ वैसा है कि परीक्षा में बार-बार फेल होने वाले बच्चे को लेकर हम कहें कि पहले इस बच्चे का पारिवारिक वातावरण सुधारो, मुहल्ला बदलो या शहर में शांति लाओ, स्कूल की व्यवस्था ठीक करो, देश की शिक्षा पद्धति में परिवर्तन करो, तब हम इस बच्चे की कोई सार्थक मदद कर सकते हैं!

राजकिशोर ने अपनी पत्रिका के इस अंतिम अंक में उन लोगों की संख्या चार हजार कूती है जिनके वार्षिक सदस्य बन जाने से पत्रिका बच सकती है। आमतौर पर लोग हिंदी प्रदेशों की कुल आबादी का

हवाला देकर कह उठते हैं कि चार-पांच हजार पाठक जुटाना भला क्या चीज है। मैं अपने पैतृक घर में रखी पुरानी पत्रिकाओं की जिल्दें उलटते हुए अक्सर सोचता हूँ कि मेरे जिले में अब कितने विचारशील पाठक रह गए हैं। यदि समूचे हिंदी क्षेत्र में चार हजार ऐसे पाठक हैं तो मेरे जिले में कम से कम दस तो होने ही चाहिए। भावी पत्रिकाओं के गर्भधारी संपादकों के कहने पर मैंने उन्हें ऐसे दस संभव पाठकों के नाम और पते कई बार दिए हैं। पिछले दिनों उनमें से एक से मिलकर मुझे थोड़ा पश्चाताप हुआ कि मैं हर जगह उसी का नाम क्यों देता रहा हूँ। आखिर वह कितनी पत्रिकाओं की अस्तित्व रक्षा करे? मैं भी बहुतों के लिए एक संभावित ग्राहक-पाठक रहा हूँ— मैं ही कितनी मरणशील पत्रिकाओं की रक्षा कर सका हूँ? सामान्य पाठक की तलाश करते-करते हम बार-बार एक दूसरे के पते ही क्यों देने लगते हैं? गंभीर पत्रिका की जब किसी को जरूरत नहीं है तो हम क्यों एक और पत्रिका बचाना या निकालना चाहते हैं? 'हम' कौन हैं? हमारी इस तकलीफ का नाम क्या है?

इन सवालों की टोह में चलूँ तो मुझे आजादी के आगे पीछे जन्मी पीढ़ी नजर आती है। इस पीढ़ी को यह मनोदशा विरासत में मिली कि हिंदी हमारी सांस्कृतिक निधि है, वह हमें समृद्ध करती है, हमें उसे समृद्ध करना है। हमारी भाषा किसी से कम नहीं है, यह विश्वास भी इसी विरासत का एक अंग था। आज यह विश्वास जब मैं अपने किसी हम उम्र की पीढ़ा में पहचानने का क्षणिक सुख पाता हूँ तो लगता है कि यह एक अंधविश्वास है। 'कथादेश' के पिछले अंक में पंकज बिष्ट ने जानना चाहा है कि हिंदी और अंग्रेजी के अखबारों में इतना अंतर क्यों है? राजेंद्र माथुर ने अंग्रेजी के अखबार को बादाम और हिंदी के अखबार को मूंगफली की संज्ञा दी थी। उनका यह कहना हार या हीनता नहीं, यथार्थ को स्वीकारने का संकेत था।

अब यह यथार्थ और कष्टकर हो चुका है। एफएम रेडियो से लेकर प्रांतीय अखबारों के रंगीन रविवासरियों तक हिंदी समाज और भाषा की वैचारिक सामर्थ्य को धक्के मारने में चार हजार से कहीं ज्यादा लोग लगे हैं। इनमें आप अनेक पूंजीपति प्रकाशकों, नेताओं, अधिकारियों, संपादकों, पत्रकारों और उद्घोषकों को पहचान सकते हैं।

इस अंदरूनी हमले से हिंदी के बचाव के लिए चार हजार विचारशील पाठक पर्याप्त हो सकते हैं बशर्ते कि वे निश्चेष्ट पाठक न हों। 'कुछ मिल गया तो पढ़ लिया, नहीं मिला तो कोई बात नहीं' वाली मनः स्थिति के पाठक हिंदी में बहुतेरे रहे हैं। उनकी सदाशयता स्तुत्य है पर आज के हालत के लिए उपयोगी नहीं है। कितने ही कोष-प्रस्ताव ऐसे पाठकों की सुध का इंतजतार करते-करते सूख गए। 'समकालीन जनमत' और 'देशकाल', 'पहल' निधि और अशक निधि— इन चार के प्रयास पिछले ही वर्ष चले। अब राजकिशोर ने 'दूसरा शनिवार' के लिए भी एक ट्रस्ट की जरूरत जताई है। ये तमाम कोशिशें सही हैं। वे कितनी सफल होंगी, ऐसा प्रश्न उठाना बेमानी है। कठिनाई के समय हर कोशिश को समर्थन दिया जाना चाहिए। हिंदी निश्चय ही एक ऐतिहासिक कठिनाई से जूझ रही है। उसकी मदद के लिए एक बड़ी सांस्कृतिक मुहिम चाहिए। मुहिम से आशय हिंदी क्षेत्र से गुजरने वाले राष्ट्रीय राजमार्गों पर चक्का जाम से नहीं है। हमें एक और ही तरह की मुहिम चलानी चाहिए।

लेखकों से पूछें कि वे दूसरे किन लेखकों को पढ़ रहे हैं और क्या वे अपनी रचनाओं को कम से कम दो बार लिखते हैं। विद्वानों से पूछें कि उन्होंने अपने विषय-क्षेत्र में हिंदी में क्या लिखा है? और नहीं लिखा है तो कब लिखने वाले हैं।

इस मुहिम के तहत हमें पूछने वाले चाहिए। उनका काम हो कि वे अध्यापकों से, छात्रों से, एजेंटों से, संपादकों से, मालिकों से, लेखकों से, विद्वानों से सवाल पूछते रहें। स्कूल के अध्यापकों और किशोरों से पूछें कि उन्होंने भगवती चरण वर्मा, श्रीराम शर्मा और मन्नू भंडारी जैसे सहज पठनीय लेखक पढ़े हैं या नहीं। ये कोई पत्रिका नियमित पढ़ते हैं कि नहीं। प्रिंसिपल से पूछें कि वे अपने स्टाफ से छात्रों को पढ़ने की आदत डलवाने के लिए कौन-कौन से कदम उठा रहे हैं? अपने शहर के एजेंट से पूछें कि उन्होंने छोटी पत्रिकाओं के बिल चुका दिए हैं या नहीं। पुस्तक-विक्रेताओं से पूछें कि उनकी दुकान पर पाठ्य पुस्तकों, कुंजियों और कापियों के अलावा कौन-सी किताबें उपलब्ध हैं। संपादकों से पूछें कि वे अपने अखबार में विचारों, प्रतिक्रियाओं और पुस्तकों की चर्चा के लिए कितनी जगह दे रहे हैं। मालिकों से पूछें कि उन्होंने संपादक के पद पर किसी पढ़ने-लिखने वाले को नियुक्त किया है या किसी पुराने नौकर को, और यदि अखबार को निस्संपादक रखा है तो क्यों? प्रकाशकों से पूछें कि उनकी किताबें आम दुकानों पर क्यों नहीं पहुंच रहीं। यह भी पूछें कि प्रकाशन के लिए पांडुलिपियों का चयन वे किस प्रक्रिया के तहत करते हैं।

लेखकों से पूछें कि वे दूसरे किन लेखकों को पढ़ रहे हैं और क्या वे अपनी रचनाओं को कम से कम दो बार लिखते हैं। विद्वानों से पूछें कि उन्होंने अपने विषय-क्षेत्र में हिंदी में क्या लिखा है? और नहीं लिखा है तो कब लिखने वाले हैं।

ये प्रश्न सिर्फ एक-दो बार पूछने के लिए नहीं हैं, नाक में दम करने के लिए हैं। यदि आज लगभग चार हजार लोग इस काम के लिए स्वयं को नियुक्त कर दें तो कुछेक वर्षों में हिंदी समाज का माहौल बदल सकता है। नियुक्ति के लिए एक ही योग्यता अनिवार्य है कि उम्मीदवार स्वयं लेखक न हो! यह इसलिए जरूरी है कि प्रश्न पूछते रहने का काम किसी को स्वार्थ प्रेरित न लगे। नियुक्ति के लिए हिंदी भाषा के विशाल भू-भाग की कोई बस्ती चुनी जा सकती है।

आवेदन के लिए हर तारीख अंतिम तिथि है।

शिक्षक, कुशल प्रशासक, लेखक, कहानीकार—
सब परिचय अधूरे पड़ते हैं श्री कृष्ण कुमार के। उन्होंने शिक्षा को बहुत व्यापक अर्थ में लेकर काम किया है। अंग्रेजी के वर्चस्व से जूझते हिंदी-समाज की प्रकाशित रचनाशीलता के लिए, उन्हीं के शब्दों में कहें तो उन्हें पत्रकारिता की ओट लेना भी अनिवार्य-सा लगा था। और इस जरूरी काम को उन्होंने हिंदी और अंग्रेजी दोनों में एक से कौशल से किया है।



पोथी पढ़ि पढ़ि

असाधारण युग के वे साधारण दिन

तारा गांधी भट्टाचार्य

15 अगस्त 1947 के कुछ दिन बाद दिल्ली में एक ऐसी आग भड़की जो महा अनिष्ट की आशंका लिए थी। देखते-देखते हिंसा की उस अग्नि ने वातावरण को कुछ ऐसा प्रकोपित किया कि समाज और व्यक्ति के बुनियादी विश्वास समझ के बाहर हो गए।

अचानक हमारे स्कूल बंद हो गए थे। हमारे घर में, और नीचे अखबार के कार्यालय में बहुत आशंकित सी घबराई हलचल होने लगी। सड़क पर और बाहर चारों ओर से बहुत उग्र कोलाहल सुनाई देता था, या फिर एक भयाकुल सन्नाटा छा जाता था। उस सन्नाटे में कभी-कभी कोई चीख सुनाई दे जाती थी।

क्रांति और संघर्ष के अनिश्चित काल में ही हम जन्मे थे और पल-बढ़ रहे थे। इसलिए उस उग्र वातावरण को भी हमने हमारी स्वाभाविक परिस्थिति की अविच्छेदित गति में ग्रहण किया। किंतु हमारे लिए वह एक आकस्मिक आघात था जब हमें खबर मिली कि मेरे स्कूल की कुछ मुसलमान लड़कियां अपने परिवार के साथ अपने घर से किसी दूसरे ठिकाने पर चली गई हैं। मेरी एक मुसलमान सहेली हनुमान मंदिर के पास ही रहती थी। एक दूसरी सहेली जामा मस्जिद के पास रहती थी। उनसे मिलने की मैंने बहुत कोशिश की। किंतु कुछ भी संभव नहीं हुआ। उस तनावग्रस्त हिंसक माहौल के हम आदी नहीं थे। बाहर के हिंसक तत्वों के विरोध और संघर्ष से तो हमारा जीवन अभ्यस्त था। हमारे आंतरिक हिंसक प्रवाहों का यह परिचय अब एक निष्ठुर वास्तविकता थी। उस भय भरे काल में पिताजी को घर से बाहर देर रात तक रहना होता था। अखबार के कार्यालय के मुसलमान कार्यकर्ताओं की सुरक्षा पिताजी का गंभीर दायित्व था।

हमारी बिल्डिंग के नीचे, मशीन पर अखबार के छपने की घड़घड़ाहट एक चेतनता की ध्वनि लगती थी कि स्वाधीनता की क्रांति अभी समाप्त नहीं हुई है। बाहरी शत्रुओं से तो विजयी हो गए हैं, किंतु हमारे सामने हमारी अपनी आंतरिक

हिंसा से, और अपने सामाजिक अन्याय से अभी बहुत लंबा संघर्ष बाकी है।

अपरिचित भय के घेरे में अखबार की मशीन की वह कर्कश, किंतु परिचित ध्वनि में आश्वासन था, प्रेरणा थी। रात की हमारी नींद में भी वह ध्वनि विघ्न नहीं बनती थी। अखबार छपने के बाद जब मशीन बंद हो जाती थी तब हमारी नींद कोई आशंका लिए टूट जाती थी। उन दुर्दिनों में दिल्ली के स्कूल कॉलेज के साथ कितने ही बुनियादी कारोबार बंद हो गए थे। खाद्य पदार्थों की दुकानें और न जाने कितनी चीजें जैसे विलुप्त हो गई थीं।

घर में तो मां महीने भर का सामान रखती थीं। कई मेहमान भी हमारे यहां ठहरे थे। बाहर से आए परिवार के बंधुगण और घर के कर्मचारियों के साथ हम

लगभग पचास लोग थे। मां के लिए यह एक विकट परिस्थिति थी। आज समझ रही हूं कि मां हम बच्चों को सब आशंकित विचारों से रक्षित रखने का कितना असंभव प्रयास करती रहीं होंगी। एक बार तीन-चार दिन तक बिना सब्जी, आलू, प्याज के मां को रसोई संभालनी पड़ी। अचानक एक दोपहर कोई दो टोकरी आलू हमारे घर ले आए। मैं खुशी से उछल पड़ी और दौड़ते हुए मैंने मां को वह सुखद समाचार दिया। मां को पहले भरोसा भी नहीं हुआ। हिंसक काल, भयभीत मानस, दैनिक खाद्य की दुर्लभता, अगले आहार की अनिश्चितता— ऐसी परिस्थिति में, उस दिन आलू की टोकरी के दर्शन में अमूल्य अनुभव था। उस दिन भात के साथ आलू की रसेदार सब्जी में जो स्वाद था, वह जीवन में दुबारा मुझे उपलब्ध नहीं हुआ।

भयंकर यथार्थ को अधिक तीक्ष्ण करती हुई भड़काने वाली झूठी सूचनाएं भी हमें मिलती थीं। एक दिन हमारे घर कुछ लोग दौड़ते हुए

आए और समाचार दे गए कि हजारों लोगों की भीड़ भागती हुई हमारे हिन्दुस्तान टाईम्स कार्यालय की ओर आ रही है। इस घर में भी ये लोग आ जाएंगे। कुछ देर के लिए हम भाई बहन सुन्न रह गए। पिताजी घर में नहीं थे। मां शायद इस अफवाह को समझ रही थीं। या फिर हम बच्चों के सामने अपनी व्याकुलता प्रकट नहीं करना चाह रही थीं। वे विचलित नहीं हुई, किंतु एक स्वाभाविक आशंकित

**देश की स्वाधीनता के बाद,
सदा से अंग्रेजी हुकूमत के
पक्षधर सेंट थॉमस स्कूल के
वातावरण में परिवर्तन हो गया
था। हमारी स्कूल की
शिक्षिकाओं का दृष्टिकोण भी
बदल गया था। हमारी प्रिंसिपल
मिस जरबुड स्वदेश लौट गई
थीं। लेकिन उनके जीवन के
मूल्य और आदर्श ही स्कूल की
बुनियाद थे। स्कूल के
वातावरण में मिस जरबुड के
दृढ़, किंतु कोमल और शांत
व्यक्तित्व की उपस्थिति का
अभाव सब महसूस करते थे।**

प्रतिक्रिया में मैंने अपने भाइयों से कहा कि हमें जल्दी ही एक पलंग के नीचे छिप जाना चाहिए।

देश की स्वाधीनता के बाद दिल्ली में खून और हिंसा की इतनी नदियां बही थीं कि गांधी कलकत्ते से दिल्ली आने को विवश थे। यह दिल्ली की आत्मनिर्भरता की पराजय ही थी। किंतु इस रुग्ण मानसिकता के लिए गांधीजी की उपस्थिति रामबाण थी। अखबार की मशीन की घड़घड़ाहट भी जैसे कुछ सुखद संवाद देने लगी थी।

बापूजी जिस दिन दिल्ली पहुंचे, हम लोग भागकर उनसे मिलने गए। मां हमारे साथ नहीं आईं। बापूजी ने मुझे पूछा भी कि लक्ष्मी कहां है। मैंने घर में मां से जब कहा कि बापूजी तुम्हारे बारे में पूछ रहे थे तो मां ने कहा— “दिल्ली में इतनी हिंसा हुई है। मैं दिल्ली की ओर से क्या कहूंगी। मैं बापूजी के सामने कैसे आऊंगी?”

दूसरे दिन बहुत साहस बटोर कर मां बापूजी के पास गईं। सिर पर साड़ी का पल्ला लिए मां ने बापूजी को प्रणाम किया। मां की आंखों से आंसू छलक रहे थे। उन अश्रुओं में दूसरों की हिंसा और विषमता का पश्चाताप बह रहा था। गांधीजी का विषाद और मां के अश्रु— उस क्षण की मैं साक्षी थी।

मां का अपने ससुर से बहुत विशिष्ट संबंध था। बापूजी की इच्छा को समझ के उन्होंने स्वेच्छा से ही अपने विवाह में भेंट रूप प्राप्त सब जेवर, कपड़े और दूसरे उपहार वापस लौटा दिए थे। भेंट में मिली एक ही चीज के लिए बापूजी की स्वीकृति थी। सूत कातने की एक नन्हीं तकली को रखने की लकड़ी की एक

छोटी, सादी आकर्षक डब्बी मां ने अपने पास संजोयी थी। उस डब्बी को जब भी मैं देखती थी तो मां से कहती थी कि वह डब्बी मैं लूंगी। उस समय सूत कातने और खादी के बारे में भला मेरे क्या विचार होते। मुझे तो बस वह डब्बी चाहिए थी। मां कहती थीं कि वह डब्बी मैंने तेरे लिए ही रखी है। क्या उन्हें पता था कि चरखा सूत्र में ही मेरे जीवन में अर्थ की खोज रहेगी?

मेरे स्कूल, सेंट थॉमस के पास के वाल्मीकि आश्रम के बाद मुझे फिर से गांधी सान्निध्य मिल रहा था। परिस्थिति चाहे जैसी भी होती थी, क्रांति की

बापूजी जिस दिन दिल्ली पहुंचे हम लोग भागकर उनसे मिलने गए। मां हमारे साथ नहीं आईं। बापूजी ने मुझे पूछा भी कि लक्ष्मी कहां है। मैंने घर में मां से जब कहा कि बापूजी तुम्हारे बारे में पूछ रहे थे तो मां ने कहा “दिल्ली में इतनी हिंसा हुई है। मैं दिल्ली की ओर से क्या कहूंगी। मैं बापूजी के सामने कैसे आऊंगी?”

अथवा उदासीनता की, गांधी के पास हम बच्चों के लिए एक उत्सव रचित रहता था। स्कूल की सहेलियों ने कुछ शिकायत में कहा कि देश को आजादी तो मिल गई है, किंतु इस बार गांधीजी हमारे स्कूल के पास के आश्रम में क्यों नहीं ठहर रहे हैं? मुझे घर में समझाया गया था कि शहर के तनावग्रस्त हिंसक वातावरण के कारण और सुरक्षा के विचार से एलबुकर्क रोड पर स्थित बिरला हाउस ही बापूजी के लिए उचित रहेगा। देश की स्वाधीनता के बाद, सदा से अंग्रेजी हुकूमत के पक्षधर सेंट थॉमस स्कूल के वातावरण में परिवर्तन हो गया था। हमारी स्कूल की शिक्षिकाओं का दृष्टिकोण भी बदल गया था। हमारी प्रिंसिपल मिस जरवुड स्वदेश लौट गई थीं। लेकिन उनके जीवन के मूल्य और आदर्श ही स्कूल की बुनियाद थे। स्कूल के वातावरण में मिस जरवुड के दृढ़, किंतु कोमल और शांत व्यक्तित्व की उपस्थिति का अभाव सब महसूस करते थे। जिस दिन मिस जरवुड स्वदेश लौट रहीं थीं, उस दिन भी जाते-जाते उन्होंने पीछे मुड़कर जमीन पर गिरा एक कागज का टुकड़ा उठाया और सहज साधारण भाव से हम लड़कियों से कहा था— “जमीन पर जब कचरा दिखे, तो उसे उठा लेना चाहिए। कचरा कूड़ेदान में ही डालना चाहिए।” भाषा उनकी अंग्रेजी थी, किंतु उनमें जीवन और समाज के मूल्यों का दर्शन था। मंदिर मार्ग में सेंट थॉमस चर्च और उसका स्कूल आज भी वैसे ही खड़े हैं, जैसे मैं उसे तब जानती थी।

बिरला हाउस में बापूजी के साथ शाम को टहलते समय मैं अपने स्कूल के खेल के मैदान को याद करती थी। बापूजी को जब एक बार मैंने याद दिलाया कि मेरे स्कूल में चलने की सुविधा अधिक थी तो उन्होंने मुझे समझाया कि जगह छोटी हो या बड़ी चलने का अभ्यास हमेशा रखना चाहिए। बिरला हाउस का सुंदर बड़ा लान संध्या की सामूहिक प्रार्थना के लिए व्यवस्थित रहता था। उसी लॉन के किनारे की कुछ ढकी एक लंबाई बापूजी के चलने के लिए उपयोगी रहती थी। बारिश में भी हम बापूजी के साथ वहां कम से कम आधा घंटा चल लेते थे।

उन्हीं दिनों मैंने मां से अनायास एक उद्गार सुना “बा के बिना बापूजी कुछ अनाथ ही हो गए हैं। मनु और आभा तो बापूजी की सेवा में कोई अभाव नहीं रख रही हैं। हम सब भी उनकी पूरी सेवा करना चाह रहे हैं, किंतु बापूजी के कपड़े पहले जैसे उतने साफ नहीं हैं। उनका आहार भी अब उतना नियमित नहीं है, और उनके आराम के क्षणों के लिए भी हमारा ध्यान पर्याप्त नहीं है।”

वाल्मीकि आश्रम में भी उनका पड़ाव बा के बिना था। किंतु वहां का संग्रामी गांधी उत्साहित और उल्लासित था। वह खेवैया था जो अपने सहयात्रियों सहित नाव को सब तूफानों से, भंवर, मंझधारों से बाहर ले आया था। बस किनारे तक पहुंचना था। बिरला हाउस के पड़ाव में गांधीजी को स्वीकार करना

पड़ा कि किनारा तो मिला किंतु मंजिल तक का रास्ता फिर भी दुर्गम और दूर है। देश का विभाजन दुसह्र था तथा देश के समाज और व्यक्ति की प्रदूषित मानसिकता के नग्न यथार्थ में गांधीजी का गहरा विषाद था। दादा का विषाद मेरी चौदह वर्षीय चेतना को छू रहा था। आज, एक लंबे जीवन के प्रवास की अभिज्ञता में मैं कुछ अधिक समझने का प्रयास कर रही हूँ।

मेरे प्रति बिरला हाउस में भी बापूजी का विचार भाव वाल्मीकि आश्रम जैसी निरंतरता लिए था। दादा के वात्सल्य के लिए मैं स्वयं को सहज ही अधिकृत समझती थी। किंतु आज एक कालांतर में, मेरे प्रति उस वात्सल्य में बापूजी के दायित्व-बोध को भी समझ रही हूँ। बिरला हाउस में रात का भोजन सात और साढ़े सात बजे के बीच होता था। हम भाई बहन सब उस समय वहीं होते थे। हमारे सबसे छोटे भाई गोपू को मनु बहन और आभा भाभी अपने साथ भोजन के लिए ले जाती थीं। हम भाई बहनों को भी बुलाया जाता था और हम भी भोजन के लिए बैठ जाया करते थे। वहां के सर्वोत्तम शाकाहारी भोजन के लिए हम बहुत चाव से तैयार रहते थे।

बापूजी मुझे समझाते कि बिरला जी और उनके परिवार के संस्कारों में आतिथ्य परंपरा का बहुत ध्यान रखा जाता है। लेकिन हम उसका अकारण लाभ न लें। सिर्फ छोटे गोपू को ही यहां का भोजन करना चाहिए। मनु बहन और आभा भी और कुछ सदस्य जो बापूजी के साथ वहां रहते थे, उन्हें तो वहीं भोजन करना था। किंतु हमें तो हमारे घर में रात का भोजन करना चाहिए। बात सही थी और हमने बापूजी के निर्देशन का पालन भी किया। हां, दो-तीन बार मुझसे उनकी आज्ञा का उल्लंघन हो गया। मैं छोटे भाई गोपू को लेकर बिरला हाउस की पहली मंजिल में श्री घनश्यामदास बिरलाजी की पुत्रवधु श्रीमती सरला बहन से मिलने जाती थी। सरला बहन के मन में हमारे लिए बहुत स्नेह और मातृत्व था। “मैं गोपू के लिए और तुम्हारे लिए यहीं भोजन मंगा रही हूँ। तुम रात का भोजन यहीं कर के जाओ।” वे कहतीं और उस स्नेहमय आतिथ्य की स्वीकृति मैं सहर्ष करती थी और उसमें मुझे कोई अपराध बोध नहीं लगता था। बापूजी सब समझते थे किंतु इस बारे में उन्होंने मुझे कभी कुछ कहा नहीं। किंतु, आतिथ्य और अतिथि के धर्म के मूल्यों का कुछ ज्ञान मुझे अवश्य हुआ।

उस अपरिपक्व आयु में साज-सिंगार की मेरी रुचि जरा बेढंगी-सी थी। सब कपड़े जैसे सलवार, कमीज, गरारा तो खादी के ही होते थे, किंतु कानों में तरह-तरह के झुमके पहने रहती थी। “इनको पहनने की क्या जरूरत है, इनके बिना तू आजाद रहेगी और ज्यादा सुंदर लगेगी।” मेरे कान खींचते हुए, कुछ हंसते हुए और कुछ गंभीरता में बापूजी कहते थे। उनके सुझाव में कुछ निर्देशन

था, किंतु उनके सामने दिखावे के लिए भी मैंने कभी उनकी इच्छा का पालन नहीं किया। मैं अपने उस बेढंगे शौक से स्वाधीन नहीं हो सकी। आज उस निरर्थक अलंकार से मुक्त हूँ किंतु रंगों का प्यार तब भी था, आज भी है। आज की तरह मेरी खादी तब भी कई रंग लिए रहती थी। मेरे उस शौक पर बापूजी ने कभी टिप्पणी नहीं की।

अभी हाल में एक पत्रकार ने मुझे कहा “बापूजी की पोती होने के नाते आपको तो सादी सफेद खादी में होना चाहिए। आपको रंगों से इतना प्यार क्यों?” “मेरे अंदर धरती के सब रंग भरे हुए हैं। आपको कैसे समझाऊँ कि बापूजी की खादी की शुभ्रता में भी मैंने वही सब रंग देखे थे।” हंसते हुए मैंने यह भी जोड़ा था “गांधी के मापदंड से मुझे देखेंगे तो ये मेरे प्रति अन्याय ही होगा। मैं हर प्रकार से हारी रहूँगी। मुझे अति साधारण में ही समझिए।”

देश विदेश के विभिन्न व्यक्ति बापूजी के सामने अपनी सहजता और स्वाभाविकता में ही रहते हुए गांधी से अपने वैचारिक भेद को भी स्पष्ट भाव से व्यक्त करते थे। जो खादी के विचार से प्रेरित थे और खादी के आदी थे, वे खादी पहनते थे। जो खादी के कपड़ों के आदी नहीं थे, वे दूसरे कपड़ों में निस्संकोच रहते थे तथा बापूजी द्वारा स्वीकृत ही रहते थे। मैंने बापूजी को क्रुद्ध होकर किसी से बात करते नहीं सुना। दूसरे व्यक्ति के लिए हीन भावनायुक्त तो कभी नहीं रहते थे। दूसरा व्यक्ति उनके सामने सम्मानित रहता था। दूसरे व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक योग्यता समझ के ही वे अपने सुझाव देते थे।

स्वाधीन भारत की पहली दीपावली में हम बापूजी के सानिध्य में थे। दीपावली के बाद का पहला दिन गुजराती नव वर्ष का आरंभ भी है। उसके लिए पिताजी का इतना गहरा पारंपरिक बंधन था कि उन्होंने बापूजी को बिरला हाउस के लॉन में नव वर्ष के लिए दिल्ली में बसे गुजराती भाई बहनों को मुख्य रूप से संबोधित करने को कहा।

मुझे स्मरण है कि किस प्रकार पिताजी आग्रह और तर्क से बापूजी को समझा रहे थे कि दिल्ली में बसे गुजराती भाई बहनों के लिए यह सब कितना आवश्यक और अर्थयुक्त रहेगा, यदि बापूजी नव वर्ष में उनके लिए कुछ विशेष समय रखें। गुजराती में संबोधन और आशीर्वाद दें। बापूजी की मुस्कान में उस तर्कसंगत विचार की स्वीकृति थी।

उस नव वर्ष के लिए बहुत बड़ी संख्या में गुजराती भाई बहन बापूजी की प्रार्थना में एकत्रित हुए थे। बापूजी ने अपनी मातृभाषा गुजराती में वर्ष के प्रथम दिवस का अभिनन्दन किया। बापूजी किन विचारों में अभिव्यक्त थे, यह मुझे स्मरण नहीं। पिताजी ने तर्क संगत विचार से, और बेटे होने के अधिकार से,

बापूजी से यह सामाजिक अनुष्ठान करा ही लिया था।

एक दिन जब मैं स्कूल से वापस ही लौटी थी कि पिताजी ने मुझे कहा “तारु, एम.एस. सुब्बुलक्ष्मी अपने परिवार सहित मद्रास से दिल्ली आई हैं। वे शाम की प्रार्थना से पहले बापूजी को अपना भजन सुनाना चाहती हैं। उनके भजन के साथ उनकी बेटी राधा का नृत्य भी होगा। तुझे इन विशिष्ट मेहमानों को बापूजी के पास ले जाना है। बापूजी की अनुमति ले के तुझे ही बापूजी के सामने यह कार्यक्रम आयोजित कराना होगा।” मैं अति उत्साहित थी। स्कूल के कपड़े भी मैंने नहीं बदले। पैर की एक चप्पल टूट गई थी। उसी टूटी चप्पल में मैं पिताजी के विशिष्ट मेहमानों के साथ बापूजी के पास पहुंची।

बापूजी कमरे में जमीन पर सदा की तरह पतले गद्दे पर बैठे थे। कुछ लिख रहे थे। बापूजी के पास जाकर मैंने कहा “बापूजी, अप्पा ने कहा है कि श्रीमती एम. एस. सुब्बुलक्ष्मी आपको एक भजन सुनाएंगी और इनके भजन के साथ इनकी बेटी राधा नाचेगी।” बापूजी के मुख पर एक हल्की-सी मुस्कान। उन्होंने कलम को हाथ में लिए ही मुझे कहा “वे अवश्य अपना भजन मुझे सुनाएं और इनकी बेटी भी नृत्य करें। लेकिन मुझे क्षमा करें क्योंकि मैं लिख रहा हूँ। इसलिए केवल सुन सकूंगा, देख नहीं सकूंगा।”

एम. एस. सुब्बुलक्ष्मी ने अपने वाद्यकारों के साथ उनकी लोकप्रिय फिल्म ‘मीरा’ का भक्ति गीत शुरू किया: “घनश्याम आयो री, मेरे घर श्याम आयो री।” इसी के साथ उनकी किशोरी बेटी राधा ने नृत्य प्रारंभ किया। छोटा गोपू भी घुटनों पर ठुमकता हुआ अंदर आ गया। बापूजी ने अपनी लिखने की कलम नीचे रख दी। बिलकुल मगन होकर बापू ने न सिर्फ भजन सुना, नृत्य भी निहारते रहे। भजन समाप्त होते ही वे खड़े हो गए। एम. एस. सुब्बुलक्ष्मी के पास आके उन्होंने बड़ी नम्रता से कहा “अब प्रार्थना का समय है। आज प्रार्थना में धुन और भजन आप ही के होंगे।” इस तरह उस दिन सायंकाल की प्रार्थना सभा एम.एस. सुब्बुलक्ष्मी के कंठ से ध्वनित रही।

बिरला हाऊस की सायंकाल की सामूहिक प्रार्थना एक दिवस की दैनिकता का परम क्षण होता था। उसी क्षण को केंद्रित किए जैसे दिवस के सब कार्य, प्रबंधन आंदोलित रहते थे। एक प्रकार से वह आध्यात्मिक पनाह का क्षण था। सर्वधर्म प्रार्थना और सामूहिक रामधुन के बाद बापूजी अपने आंतरिक विचार अभिव्यक्त करते थे। देश, समाज और राजनीति की समकालीन परिस्थितियों तथा प्रश्नों के बुनियादी समाधानों और उत्तर में, उनके सत्य से प्रेरित नैतिक तथा व्यावहारिक विचार, उस प्रार्थना समूह के बाहर भी, दिशाहीन शिथिल मानस की चेतना को चुनौती थे। उनके प्रवचनों में, उनकी संतुलित और धीमी वाणी में,

सत्य और अहिंसा के भाव गुंजित रहते थे। उनके सत्य और अहिंसा के भाव हम बच्चों को एक ऐसे सुर में बांधे रखते थे कि बापूजी के पास जाते ही, एक अद्भुत प्रेरणा में, हम अपने विचारों की गहराइयों में भी, हमारी क्षमता के अनुसार, गांधी दर्शन के अनुकूल रहने का प्रयास करते थे। भूल विचार भी हमें अपराध बोध कराता था।

सत्याग्रह और अहिंसा के प्रयोग और समग्र चिंतन में गांधी अपने आहार और परिधान में भी समयानुसार बहुत चिंतनयुक्त परिवर्तन करते रहे। बापूजी को मैंने सदा अत्यंत अल्पाहारी देखा। उनके खाने की विधि से मैं बहुत प्रभावित रहती थी। कुछ बड़े कटोरे से, एक चम्मच से, कायदे से वे अपना आहार लेते थे। अक्सर लकड़ी के चम्मच का उपयोग करते थे। मैंने उनके भोजन में अधिकतर फल, उबली सब्जी अथवा दलिया देखा था।

अपने जीवन के अंतिम दशकों में उन्होंने श्रमिक मजदूर का ही परिधान अपनाया था। हाथ के कते बुने कपड़े की घुटने तक की धोती उनका परिधान थी। कभी धूप और ठंड से बचने के लिए सिर और छाती पर एक चादर लेते थे। मैंने बापूजी को कभी सिले वस्त्र में नहीं देखा। उनके पैरों में कभी मोजे नहीं देखे। आज मुझे आश्चर्य होता है कि दिल्ली की कड़ाके की सर्दी में बिना मोजे और खुली छाती में वे कैसे रहते थे। क्या वह एक भारतीय श्रमिक मजदूर की आध्यात्मिक शक्ति का परिचय था?

इस सात्विकता के वर्णन से भी बापूजी के व्यक्तित्व का पूर्ण चित्रण नहीं हो सकता है। बापूजी की अद्वितीय, मोहक, खिलखिलाती हंसी भी उस सात्विकता का अभिन्न अंग थी। वह मोहक मुस्कान हम बच्चों को चित्ताकर्षक रखते हुए एक महान अर्थ के लिए आह्वान देती थी।

पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, मौलाना आजाद, राजेन्द्र प्रसाद, राजगोपालाचार्य तथा देश-विदेश के अन्य महानुभावों के साथ, समाज के सब क्षेत्रों के विशिष्टतम व्यक्तियों को बापूजी के पास देखने के हमें अद्भुत अवसर रहते थे। ये सब महानुभाव बहुत सहजता के साथ बापूजी के पास जमीन पर बिछी दरी पर बैठते थे। प्रतिदिन डायरी लिखना गांधी प्रणाली का मुख्य अंग था। मनु बहन नियमित रूप से डायरी लिखती थीं। उनके लेखन में न पांडित्य का, न साहित्य का, न इतिहासकार का कोई दावा था। गांधी प्रणाली में वह एक प्रमुख दैनिक कर्तव्य को निभाते हुए डायरी लिखती थीं। मनु बहन की डायरी ही भविष्य में इतिहासकारों और शोधकर्ताओं के लेखन का मुख्य आधार बनी। मुझे कई बार लगता था कि मैं अपनी चचेरी बहन मनु जैसी क्यों न बनूं। लेकिन मेरे दूसरे आकर्षण अधिक प्रभावी थे। एक दूसरी महिला भी मुझे

बहुत आकर्षित करती थीं— अपनी अद्भुत महीन खादी साड़ी में इकहरे कोमल शरीर की श्रीमती राजकुमार अमृत कौर। उनके रूप-रंग और वेष-भूषा, और विशिष्टतम खादी से मैं इतनी मुग्ध थी कि मैंने निश्चय कर लिया कि मैं उन्हीं के जैसे स्वयं को खादी में अलंकृत रखूंगी। वह आधुनिकतम महिला गांधी से प्रेरित थीं। सिर पर आंचल लिए वे गांधी के प्रवचनों को उसी समय अंग्रेजी में अनुवाद करके लिखती थीं। मैं उनके सजे संवरे हाथ ही देखती रहती थी। उनके कोमल हाथों में उस जमाने के सबसे विशिष्ट और कीमती पैन शैफर्स पैन अथवा पार्कर पैन जिस प्रकार शोभायमान रहते थे, वह उस युग के उन फाउन्टेन पैन के सर्वोत्तम विज्ञापन बन सकते थे।

पचास वर्ष बाद मेरे साथ एक अद्भुत घटना घटी। वर्षों बाद मुझे मेरे कॉलेज की वह सहेली मिली, जिसने रंगमंच की कला को अपनाया था। “अरे तारा, तुमसे मिलकर बहुत खुशी हुई है। मैं तुम्हें खादी की कुछ साड़ियां देना चाहती हूं। एक बार राजकुमारी अमृत कौर की भूमिका के लिए मुझे ये साड़ियां दी गई थीं।” “पर तुम ये साड़ियां मुझे क्यों देना चाहती हो?” मैंने कौतूहल में पूछा। “ये साड़ियां राजकुमारी अमृत कौर स्वयं पहनतीं थीं। उन्होंने मुझे ये साड़ियां दे दी थीं। लेकिन इन साड़ियों के लिए तुम ही अधिकृत हो।”

मैं अवाक रह गई। हिंदुस्तान के शाही परिवार की एक राजकुमारी। उसकी खादी की अद्वितीय साड़ियां। इन्हें तो किसी संग्रहालय में रहना चाहिए था। इतने वर्षों बाद वे मेरे पास कैसे आ गईं? मेरे अंतःकरण का सत्य था कि मेरे किशोर मानस ने राजकुमारी की खादी को बहुत चाहा था।

अति साधारण युग के उन दिनों को हम बच्चे बड़ी स्वाभाविकता के साथ साधारण ढंग से जी रहे थे। 30 जनवरी 1948 का दिन हम बच्चों के लिए वही साधारणता लिए था। उस दिन बापूजी की प्रार्थना सभा के लिए निकलना कुछ संभव नहीं लग रहा था। स्कूल का काम कुछ अधिक भार लिए हुए था।

आज मैं प्रार्थना में नहीं जाऊंगी, मैंने निश्चय कर ही लिया। मोहन और रामू को भी स्कूल की पढ़ाई करनी थी। घर में रहके इस शाम हम पढ़ाई पर कुछ अधिक ध्यान दे सकेंगे। वैसे दिल्ली में जनवरी महीने का जाड़ा कड़ाके का था। घर के भीतर गर्म चाय और नाश्ते का विचार भी लुभावना था ही। तो प्रार्थना सभा में उस दिन नहीं गई। चाय पी और किताबें लेके बैठने वाली थी कि टेलीफोन की घंटी बजी। आवाज आई: महात्मा गांधी पर गोली चलाई गई है।

हमारे पिताजी अखबार के संपादक थे। इसलिए हमारे घर में लोग सनसनी खबरें लेकर आते ही थे। हम ऐसी खबरों के आदी हो गए थे। बात इतनी बेतुकी और असंभव लगी कि मैंने फोन बंद कर दिया। लेकिन फोन बजता ही चला

गया। कई आवाजों में एक ही खबर थी। हमारे मां बाप पता नहीं कब कैसे यह खबर सुनके बिरला हाउस पहुंच चुके थे। मैं भी छोटे भाई गोपू को उठाके घर के बाहर निकली। याद नहीं किस की गाड़ी में बैठ कर हम बिरला हाउस पहुंचे। भारी भीड़। अंदर जाने का मुख्य दरवाजा बंद था। मैंने जीवन में पहली बार और

हमारे मां बाप पता नहीं कब कैसे यह खबर सुनके बिरला हाउस पहुंच चुके थे। मैं भी छोटे भाई गोपू को उठाके घर के बाहर निकली। याद नहीं किस की गाड़ी में बैठ कर हम बिरला हाउस पहुंचे। भारी भीड़ अंदर जाने का मुख्य दरवाजा बंद था। मैंने जीवन में पहली बार और एक ही बार बापूजी के साथ अपना खूनी रिश्ता इतने जोर से ऐलान किया “मैं बापूजी की पोती हूँ, यह बच्चा मेरा छोटा भाई है। दरवाजा खोलिए, मैं बापूजी की पोती हूँ।”

एक ही बार बापूजी के साथ अपना खूनी रिश्ता इतने जोर से ऐलान किया— “मैं बापूजी की पोती हूँ, यह बच्चा मेरा छोटा भाई है। दरवाजा खोलिए, मैं बापूजी की पोती हूँ।” मुझे याद नहीं मोहन और राम वहां कब पहुंचे।

बाहर व्याकुल लोगों की भीड़ का कोलाहल था। बापूजी के कमरे में, बापूजी के शव के पास, अपने आंतरिक क्रंदन की स्तब्धता में, देश की धड़कन लिए पंडित नेहरू थे। मनु बहन और आभा भाभी, कुछ अचेतनता में जैसे अवाक थीं। वेदना की गहराई में मां स्तंभित थीं। “तारू बापूजी को प्रणाम करो” पिताजी ने फूट-फूट कर रोते हुए कहा। मैंने अप्पा को रोते हुए पहले कभी नहीं देखा था। मुझे कुछ ऐसा लग रहा था कि बापूजी अभी जीवित हो जाएंगे।

साठ वर्ष बाद वह बिरला हाउस आज गांधी स्मृति के नाम से जाना जाता है। ऐलबुकर्क रोड अब तीस जनवरी मार्ग कहलाता है। इस पुण्य स्थल में, गांधी स्मृति के मेरे दफ्तर की

खिड़की से देश-विदेश के जनसमूह को निरंतर प्रवाहित देखती हूँ। मनुष्य और प्रकृति के सत्य और अहिंसा के प्रवाहों को अनाम विश्व नागरिक के साथ मैं भी नमन करती हूँ। मुझे भी खोज है अपने आंतरिक सत्य की।

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति,
5 तीस जनवरी मार्ग नई दिल्ली से प्रकाशित पुस्तक
‘असाधारण युग के वे साधारण दिन’ के अध्याय ‘बिरला हाउस’ के संपादित अंश।



टिप्पणियाँ

अन्ना आंदोलन का नया चेहरा

कभी कहते थे कि दिल्ली का जंतर-मंतर वह जगह है जहां पहुंच कर आदमी रास्ता भूल जाता है। कहने वाले तो यह भी कहते हैं कि हमारी राजधानी दिल्ली वह जगह है, जहां हम भेजते हैं अपना प्रतिनिधि और वह बन जाता है कठपुतली! लेकिन अन्ना हजारे और उनके साथियों ने इस सारी आशंकाओं को पार कर अपना रास्ता भी खोज लिया है और वे किसी की कठपुतली भी नहीं बने हैं।

सरकार ने इस बार देश को यह बताने की कोशिश की कि वह सख्त सरकार है और उससे आप हर बार बातचीत आदि से झुकाने की अपेक्षा नहीं रख सकते। लेकिन हुआ यह कि उसने अन्ना आंदोलन के संदर्भ में इस बार जब-जब जुबान खोली, उसकी किरकिरी हुई। वह पूरे समय आंदोलन पर कोई धब्बा मढ़ने में लगी थी लेकिन यह नहीं देख पा रही थी कि वह खुद ही दागदार हुई जा रही थी। 15 मंत्रियों पर भ्रष्टाचार के दस्तावेजी आरोप लगाकर, उसे सरकार की जांच के लिए पेश करने का कदम बहुत ही सयाना कदम था। सरकार से कहा तो यह गया था कि वह इसकी जांच के लिए विशेष जांच दल गठित करे लेकिन सरकार के लिए यह असंभव-सा काम था। वह उसी सीढ़ी को कैसे लात मार सकती है जिसके सहारे वह सत्ता तक पहुंची है और टिकी हुई है? फिर भी

एक पेंच तो फंस ही रहा था कि अगर सरकार बात करती नहीं है तो अनशन समाप्त कैसे होगा; और अगर अनशन समाप्त नहीं होगा तो जिंदगियां समाप्त हो जाएंगी। फिर आंदोलन का क्या होगा?

ऐसी उलझनें खड़ी होती ही हैं किसी भी जन आंदोलन में और तभी आंदोलन के नेतृत्व की परीक्षा भी होती है। परीक्षा की इस घड़ी में अन्ना आंदोलन का नेतृत्व परिपक्व ही साबित नहीं हुआ है बल्कि दूरदर्शी भी साबित हुआ है। इस आंदोलन से सहानुभूति रखने वालों को भी और इसका समर्थन करने वालों को भी इसका संतोष होना चाहिए।

अन्ना और अरविंद केजरीवाल जैसे आंदोलन के सर्वमान्य नेताओं ने जैसी बात कही है उससे लगता है कि यह आंदोलन देश को राजनीतिक विकल्प देने की तैयारी कर चुका है। विकल्प में दोनों तरह की बातें आती हैं— विकल्प का दर्शन भी और विकल्प की संरचना भी! दर्शन के मामले में इस मंच से कई तरह की बातें आती रही हैं जिससे पता चलता रहा है कि यहां खोज चल रही है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि जहां से यह आंदोलन उठा है और जिन रास्तों से यह आंदोलन चला व गुजरा है, उसमें कई मोड़ व चौराहे आएंगे ही।

हमें इस बात की प्रशंसा करनी चाहिए कि इस बार जंतर-मंतर पर हमें

आंदोलन का परिपक्व चेहरा देखने को मिला और यह सही दिशा में, सही समय पर चलता-बढ़ता दिखाई दिया। जिस राजनीतिक विकल्प की बात अन्ना ने कही है उसमें एक नए राजनीतिक दल का उभरना जरूरी है। यह समय की मांग भी है और इस आंदोलन की दिशा भी। दलीय राजनीति और राजनीतिक दल अभी की सच्चाई हैं। बहुत जल्दी से हम इनका कोई विकल्प खोज लेंगे और वह लागू भी कर सकेंगे, ऐसा संभव नहीं है। इसलिए एक नया राजनीतिक दल बने, इसमें न तो कुछ गलत है और न भटकाव है। आदर्शहीन व दिशाहीन राजनीतिक दलों की भीड़ में एक और राजनीतिक दल बना कर आप कर भी क्या लेंगे, ऐसी आशंकाओं का जवाब देते हुए अन्ना और अरविंद दोनों ने जनता से कई सवाल पूछे हैं। इन सवालों का जवाब ईमानदारी से खोजा जाए तो किसी नतीजे पर पहुंचना कठिन नहीं होगा। गांधी-विनोबा-जयप्रकाश के समग्र चिंतन व कार्यक्रमों में से कई सूत्र खोजे जा सकते हैं जो अन्ना आंदोलन की भावी दिशा व कदमों का निर्धारण कर सकते हैं।

एक बात साफ समझ लेना चाहिए कि यह आंदोलन गांधी-दर्शन का आंदोलन नहीं है। यह जयप्रकाश की दलविहीन लोकतंत्र की टेक ले कर भी नहीं चला है। यह आंदोलन विनोबा के ग्रामस्वराज्य को साकार करने के लिए भी कृतसंकल्प नहीं है। जो यह नहीं है हम उसका बोझ इसके कंधे पर डालेंगे तो खुद अपनी कमजोरी जाहिर करेंगे। यह आंदोलन इन तीनों की कुछ बातों तक अपने अनुभवों से पहुंचा है। आशा की

जानी चाहिए कि इसी तरह अनुभवों में से सीखते हुए यह आगे भी चलेगा। यह आज जहां पहुंचा है, हमें वहीं से इसका आकलन करना चाहिए।

राजनीतिक दलों के बारे में इसकी समझ साफ हुई है। अब तक कांग्रेस को निशाना बनाते हुए यह दूसरे कुछ दलों के प्रति बचाव का रुख रखता था। वह रवैया बेहद कमजोर था और इसलिए आंदोलन को भी कमजोर करता था। लगता है कि इस बारे में आंदोलन की समझ साफ हुई है। यह एक भ्रष्ट, मुट्ठी भर लोगों की हितसाधक राजनीतिक व्यवस्था है जो सभी किस्म के राजनीतिक दलों की सहमति से चल रही है। सारे राजनीतिक दल इस षडयंत्र में जाने-अनजाने शरीक हैं। लगता है कि अब जाकर आंदोलन इसे समझ पाया है। यह भी एक कारण है कि इस बार सरकार ने ही नहीं, सारे राजनीतिक दलों ने आंदोलन की उपेक्षा की। इतने दिनों से सबने यह महसूस कर लिया है कि यह आंदोलन अंततः उनके खिलाफ भी जाता है। इसलिए इस आंदोलन की असफलता में इन सबकी साझा सफलता है।

नया राजनीतिक दल किस आधार पर बनेगा, इसकी समझ साफ होनी चाहिए। पहली समझदारी यह कि बहुत सारे उलझाव खड़े करना समझदारी नहीं होगी। इसलिए बस तीन बातें अभी साफ होनी चाहिए— इस आंदोलन से बनी लोकसभा जनलोकपाल का विधेयक कानून में बदलेगी। यह लोकसभा प्रतिनिधि वापसी का और उम्मीदवारों को खारिज करने का अधिकार संविधान में दाखिल करेगी।

राजनीतिक दर्शन की ये तीन दिशाएं हैं कि जिनके आधार पर नया राजनीतिक दल बनेगा। आंदोलन को देश की हर लोकसभा सीट से चुनाव लड़ने की तैयारी करनी होगी क्योंकि राजनीतिक दर्शन के ये तत्त्व लोकसभा में एक तिहाई बहुमत लाए बिना साकार नहीं हो सकते हैं। इसलिए राजनीतिक दल के गठन को ध्यान में रखकर, आंदोलन के सिपाहियों को व्यापक तौर पर सारे देश में फैल जाना होगा। हर लोकसभा क्षेत्र में व्यापक विमर्श का अभियान चलाना होगा और यथासंभव व्यापक सहमति के आधार पर उम्मीदवारों का चयन करना होगा। इसके लिए हर क्षेत्र की एक चयन समिति बनानी होगी। यह सब कठिन काम है और जैसा राजनीतिक प्रशिक्षण हमें पिछले 65 सालों में मिला है, उसका प्रताप है कि हमारा क्षुद्रतम इसी अवसर पर प्रकट होता है।

इसका मुकाबला करने के दो हथियार हैं: जो भी उम्मीदवार बनना चाहेगा उसे अपनी संपत्ति का पूरा ब्योरा सार्वजनिक करना होगा जो उसके चुनाव-क्षेत्र के लोगों की संस्तुति के लिए खुला रखा जाएगा। एक से अधिक उम्मीदवार होंगे तो आपसी सहमति, पंच-पद्धति या लिस्ट सिस्टम से सबके सामने फैसला लिया जाएगा। जो अंततः उम्मीदवार होगा उसे यह लिखित अनुशासन स्वीकार करना होगा कि जब भी उसके चुनाव-क्षेत्र की चयन समिति कहेगी, वह सांसद के पद से इस्तीफा दे देगा। इस तरह चयन समिति चुनाव-क्षेत्र को सक्रिय राजनीतिक इकाई

में ढाल देगी। इन दो बंधनों में बंध कर चुनाव लड़ने और सांसद बनने को जो तैयार होंगे वे तलवार की धार पर चलने की चुनौती स्वीकार करेंगे। आंदोलन को यह भी समझना चाहिए कि उन्हें ऐसे अच्छे लोगों का चयन करना है जिनकी सार्वजनिक छवि साफ हो, जिन पर गंभीर आर्थिक घोटाले का या आपराधिक मामले का आरोप न हो, सांप्रदायिक, जातीय संगठनों से जो जुड़े न हों या ऐसी भावनाओं को उकसा कर अपना उल्लू सीधा करने में जिनका विश्वास न हो। ऐसे दूसरे निषेध भी सोचे जा सकते हैं। लेकिन इन सबके साथ-साथ यह भी समझ बनाने की जरूरत है कि व्यवस्था इतनी पुख्ता बनाई जाए कि वहां दिल्ली पहुंच कर किसी के लिए भटकने या भटकाने की गुंजाइश कम-से-कम हो। सक्षम व्यवस्था और योग्य लोगों का समीकरण खड़ा करने के लिए आंदोलन के पास हैं दो साल यानी 24 महीने! पार्टी के लिहाज से देखें तो बहुत कम हैं, जनांदोलन के लिहाज से देखें तो बहुत कम नहीं हैं! आंदोलन के लाखों कार्यकर्ता-समर्थक मिल जाएंगे तो यह काम आसान हो जाएगा। लाखों लोगों को अनुप्राणित कर सक्रिय बनाने का यह काम है जो टीम अन्ना को बस अभी शुरू कर देना है। अब कोई अनशन नहीं, अब कहीं कोई भटकाव नहीं। तेज अभियान और लगातार हर संभव मंच से आंदोलन के दर्शन का प्रचार!

जंतर-मंतर भूलभूलैया नहीं, रास्ता खोजने की साधना-स्थली बने, यह टीम अन्ना को देखना है।

कुमार प्रशांत



विचार का सूखा और डूब

हमारे मित्र देवेन्द्र का कहना है कि नल निचोड़ने के दिन आ गए हैं। इस मुद्दे पर 10 साल पहले उन्होंने एक बहुत ही सुंदर कार्टून भी बनाया था। कई बार कोई एक कार्टून भी बहुत उथल-पुथल मचा जाता है। लेकिन देवेन्द्र के उस कार्टून पर तब किसी राजनेता का ध्यान तक नहीं गया था।

अब नल निचोड़ने के साथ किसी भी क्षण नल को डुबो देने के दिन भी आ सकते हैं। थोड़ा-सा पानी गिरता नहीं कि शहरों में एकदम से बाढ़ आ जाती है। हाय-तौबा मच जाती है। कल तक जो शहर गर्मी और पानी की कमी से परेशान दिखते थे, आज अचानक उनकी सड़कों पर और उनके मकानों में घुटने-घुटने पानी जमा हो जाता है।

इस सबका दोष नालियों की सफाई से लेकर प्लास्टिक के कचरे तक पर मढ़ा जाता है। एक दूसरे पर आरोप लगाए जाते हैं, लेकिन अब हर साल शहरों में बाढ़ बरसात से पहले ही आने लगती है। फिर बरसात की बाढ़ का तो कहना ही क्या!

दो-चार चीजें एक दूसरे के साथ जुड़ जाएं तो मुंबई जैसा बड़ा शहर जुलाई के किसी हफ्ते में पूरे सात दिन के लिए तैर जाता है, डूब जाता है।

इंद्र को वर्षा का देवता माना जाता है। उनका एक नाम 'पुरंदर' भी है। पुरंदर का मतलब पुरों को तोड़ने वाला। पुर यानी गढ़ या शहर। गढ़ अक्सर शहर में ही होते थे। इंद्र का बाढ़ से संबंधित एक किस्सा बहु-प्रचारित है। वह गोवर्धन से जुड़ा हुआ है। उस किस्से में गांव की बाढ़ का वर्णन है। गोपाल कृष्ण ने अपनी छिंगली से गोवर्द्धन पर्वत को उठाकर कई गांवों को डूबने से बचा लिया था। लेकिन शहरों पर जब इंद्र का कहर टूटता है तो कोई गोपालक उन शहरों को बचाने के लिए आगे नहीं आ पाते। वे वहां होते ही नहीं हैं।

पुरंदर बहुत पुराना नाम है और इससे लगता है कि उन दिनों भी हमारे शहर बहुत व्यवस्थित रूप से नहीं बसे थे। शहर की बसावट अच्छे ढंग से की जाए, उस पर गिरने वाले पानी को ठीक से रोकने का प्रबंध हो, पानी के ठीक से बह जाने का

प्यार भरा रास्ता हो तो वर्षा का पानी वहां के तालाबों में भर जाएगा और बचा हिस्सा आगे चला जाएगा।

अब हम ऐसा होने नहीं देते। जमीन की कीमत हमारे शहरों में आसमान तक पहुंचा दी गई है, इसलिए आसमान से गिरने वाला पानी जब शहर की इस जमीन पर उतरता है तो उसकी पिछली याद मिटती नहीं। हमारे इन सारे शहरों में बड़े-बड़े कई तालाब हुआ करते थे। आज जमीन की कीमत के बहाने हमने इन सबको कचरे से पाटकर सोने के दाम में बेच दिया और अब इन्हीं इलाकों में पानी दौड़ा चला आता है।

कहा जाता है कि जब सौ साल पहले अंग्रेजों ने दिल्ली को राजधानी बनाया तो यहां छोटे-बड़े कोई 800 तालाब थे। आज मुश्किल से आठ तालाब बचे हैं। बाकी के नाम सरकारी फाइलों में भी नहीं मिलते हैं। जो हाल दिल्ली का है, वही बाकी सारी जगहों का। इन तालाबों के मिटने के कारण शहर में पानी की कमी होना

अब पुरानी बात हो गई। उसका हल हमारी सरकारों ने सौ-सौ, दो-दो सौ किलोमीटर दूर से किसी और के हिस्से का पानी इन शहरों में लाने की योजनाएं बनाकर बड़े लोकतांत्रिक तरीके से पास करवा ली हैं। वैसे देखा जाए तो यह है चोरी का पानी।

लेकिन या तो इन सरकारों ने इंद्र को बताया नहीं या इंद्र ने इनकी बात सुनी नहीं। इसलिए वे हमारे इन शहरों पर उतना ही पानी गिराए चले जा रहे हैं जितना कुछ हजार साल पहले गिराते रहे होंगे। इस मामले में हम अकेले नहीं हैं। रूस, चीन, जैसे देश भी भारी बाढ़ का सामना कर रहे हैं।

जान-माल की कीमत भी चुका रहे हैं। पहले पानी की कमी, अकाल और उससे निपट भी नहीं पाए कि बाढ़ का दौड़ा चला आना। अब तरह-तरह के राजनीतिक घोटालों के बीच इन घटनाओं को प्राकृतिक आपदा कहकर छुटकारा पाने का घोटाला भी चलता जा रहा है।

अनुपम मिश्र



पत्र

यह गांधी दर्शन की अत्युत्तम बेमिसाल पत्रिका है। मैं इसका सन् 1964 से यानी पिछले 48 वर्षों से पंतनगर विश्वविद्यालय से ही सतत पाठक हूँ। मई-जून के अंक में तो कमाल ही कर दिया है।

श्री महादेव भाई देसाई, श्री शैलेश चटर्जी, पु.गो. वालुंजकर के लेख उत्तम हैं। 'सुगंध का चर्मलेख' के शिल्पी वालुंजकर की निष्ठा व समर्पण को तो शत-शत प्रणाम। मुहम्मद मंशा की कहानी डंगर बोली अत्यंत रोचक, प्रवाहमयी है। स्नेह भरी उंगली के जीवनी परक लेख में भवानी प्रसाद मिश्र के व्यक्तित्व और कृतित्व पर अनूठा प्रकाश डाला है। टिप्पणी के अंतर्गत जोड़ने में न टूटे लक्ष्मण रेखा लेख विषयवस्तु व भाषा शैली की दृष्टि से अद्वितीय और विचारोत्तेजक हैं। इसका शीर्षक ही व्यंगात्मक व ध्यानाकर्षक है। नदी जोड़ना प्रभु का काम है, प्रभु के बदले सुरेश प्रभु इसमें न पड़ें जैसे वाक्य ही बहुत कुछ बता जाते हैं। नदी जोड़ परियोजना तुगलकी फरमान है। सब कुछ करके परिणाम शून्य ही निकलेगा, जैसे तुगलक को मुंह की खाकर दौलताबाद से लौटना पड़ा था।

महावीर सिंह,
474, इंदिरानगर,
इज्जतनगर, बरेली-243122



गांधी-मार्ग की आजीवन पाठक हूँ। पिछले कई वर्षों से इसे नियमित रूप से पढ़ती रहती हूँ। बीच में यह पत्रिका बंद हो गई थी। तब मन में एक प्रकार की चुभन-सी होती थी। मैं मानती हूँ कि इस प्रकार की पत्रिका को बंद नहीं होना चाहिए।

पुनः जब यह पत्रिका शुरू हुई तब नए विचारों का सबेरा लेकर आई। यह हम पाठकों को सुबह की शुद्ध तथा शीतल हवा के समान मानसिक आनंद देती है। इसका सचमुच कोई मूल्य आंका नहीं जा सकता।

अब यह विलक्षण विचारों से रची-बसी एक अनोखी पत्रिका के रूप में हम पाठकों के हाथों में है। ऐसे तो बाजार में आज अनेक पत्रिकाएं हैं लेकिन इस पत्रिका का स्थान हमारे मन में अलग ही है। यह पत्रिका विचार के द्वारा हमें अंतरमुखी होकर परिवेश के बारे में सोचने, समझने के लिए प्रेरित करती है।

पत्रिका हाथ में आने के बाद मन करता है इसे एक ही बैठक में पूरा पढ़ लूं। इसकी भाषा, असर तथा विचार इतने सुंदर सरल कि उसके बारे में मैं क्या लिखूं। दिलीपजी की सादी और भव्य सजावट इसमें और चार चांद लगा देती है। विचारों के प्रकार, विषयों की अनेकता विविधता से हम पाठकों को खूब आनंद मिलता है। जिस प्रकार स्वादिष्ट भोजन करने के बाद पुनः उसी प्रकार का भोजन खाने की इच्छा होती है, उसी प्रकार इस पत्रिका को पढ़ने के बाद मानसिक भूख बढ़ती जाती है। तब मन करता है कि अगर पत्रिका थोड़ी बड़ी होती तो हम पाठकों के लिए अति उत्तम होता।

यह पत्रिका सिर्फ गांधी, विनोबा तथा सर्वोदय दर्शन की ही पत्रिका है, ऐसी बात नहीं है। यह हमें अनेक नए विषयों के बारे में जानकारी देती है। जैसे हिमालय को लूटने वाले एक फिरंगी राजा विलसन की कहानी। वह किस प्रकार धन-संग्रह की इच्छा के कारण पहाड़, वन, नदी और

वन्य प्राणियों के साथ अमानवीय व्यवहार करके आज इतिहास के पन्नों में एक अत्याचारी बनकर ही रह गया है।

मैं आज से कोई पैंसठ बरस पहले सन् 1953 से गांधीजी के साथ रहे अनेक वरिष्ठ लोगों के साथ काम करती रही हूँ। आज इस आयु में भी आदतन खादी ही पहनती हूँ। लेकिन गंगा बहनजी के बारे में मुझे गांधी-मार्ग से जानकारी मिली। किस प्रकार एक ग्रामीण महिला ने गांधीजी के साथ मिलकर चरखा और खादी को साबरमती आश्रम से गांव-गांव में जन-जन तक पहुंचाया। जिस तरह भगीरथ गंगा को असीम प्रयत्न करके धरती पर लाए उसी प्रकार गंगा बहनजी के प्रयत्न से चरखा महिलाओं, कमजोर व्यक्तियों के रोजी रोटी का साधन बना। पिछले वर्ष मार्च-अप्रैल अंक में 'नमक ने बदला राजनीति का स्वाद' पढ़ा था। हमें तो लगता था कि नमक के लिए गांधीजी के मार्गदर्शन में सिर्फ भारतवासियों ने ही संघर्ष किया था। यह लेख तो दुनिया भर के अत्याचार और संघर्ष का बखान करता है।

उसी अंक में नेहरूजी का लेख 'हम शाख पत्तियों में खो न जाएं' पढ़ने से लगता है व्यक्ति कितने ही उच्च पद पर प्रतिष्ठित क्यों न हो, लेकिन मानवोचित गुणों से अलग होकर बंधन में रहना एक तरह की कैद ही है। सदा देश की समस्याओं में, उलझनों में रहना कितना कठिन जीवन बन जाता है— इसका भान इस लेख से मिलता है। प्रत्येक मनुष्य को अपना जीवन उलझनों, नियंत्रणों से मुक्त होकर जीने का अधिकार प्रकृति ने दिया है। उन गुणों से अलग होकर जीना ही कैदी समान जीवन है। मुक्त जीवन में अलौकिक आनंद मिलता है।

ठीक एक वर्ष बाद के इस ताजे अंक में मार्च अप्रैल 2012 अंक में श्रीपाद जोशी का लेख 'देश का सबसे बड़ा बदमाश' पढ़ा। इस लेख को पढ़ने से लगता है, गांधीजी को बदमाश कहने वाले कितने

विवेकहीन रहे होंगे। गांधीजी महान थे इसलिए उनको बदमाश कहने वाले के सहयोगी से मिलकर गांधीजी की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। लेकिन इस घटना को करीब से देखने वाले, उसी रेल में सफर करने वाले श्रीपाद जोशी उनके अनुयाई बन गए थे। गांधीजी में ऐसी चुम्बकीय शक्ति थी। जो उन्हें गाली देते थे, जो उनका विरोध करते थे, उनको भी वे अपना मानकर अपना लेते थे।

सुश्री पारुल चक्रवर्ती,
बी-72, बाल भारती स्कूल,
न्यू मंगलापुरी, मेहरोली, नई दिल्ली-110030



'हंस' के एक पुराने अंक में गांधी-मार्ग की समीक्षा पढ़कर पत्र लिखा और धन्यवाद प्रबंध विभाग का जिसने तुरंत मार्च-अप्रैल का ताजा अंक भेज दिया।

आशा के विपरीत जब श्रीपाद जोशी का प्रथम लेख 'देश का सबसे बड़ा बदमाश!' पढ़ा तो विचारों को खुले मन से स्वीकार करते गांधीजी साक्षात् नजर आए। लगा जैसे मैं भी इसी ग्रैंड ट्रंक एक्सप्रेस में वर्धा से दिल्ली जा रहा हूँ और साथ वाले तीसरे दर्ज के डिब्बे में भीड़-भाड़ में गांधीजी यात्रा कर रहे हैं और लोगों का अभिवादन स्वीकार कर रहे हैं।

'लक्ष्मी के देश में दरिद्रनारायण' पढ़कर अमेरिका की चकाचौंध के पीछे की असली तस्वीर नजर आई और साथ यह संदेश भी कि हमें अपने देश को अमेरिका कतई नहीं बनने देना। हमें तो कोई और ही रास्ता तलाश करना है। श्री अनिल भाटिया ने भी 'देश के ये नए कर्णधार' लिखकर इसी बात की पुष्टि की है। उन्होंने मौजूदा दौर में चल रहे ठगी और लूट के कारोबार को जिस सरलता से खोल कर रखा है, वह काबिले-तारीफ है। सपनों से खिलवाड़ किस तरह हो रहा है यह तब सामने आता है जब पाठक स्वयं को 'कर्णधार' की बजाय 'कर्जदार' के रूप में

रखकर देखता है। नेहरूजी की वर्तमान की समस्याओं को भूतकाल के गहरे अध्ययन, चिंतन, विश्लेषण द्वारा देखने की विधि भी कमाल की लगी। हम भी ऐसा करने में सक्षम हो सकते हैं। पाठकों के सभी पत्र भी पढ़ें।

पत्रिका विचार/विश्लेषण प्रदान करती है। खुले मन से समाज को समझने में सहायक है। उसे बदलना तो संगठनों को है। इस बारे में लगता है, 'गांधी-मार्ग' चुप है कि यह बदलाव आएगा कैसे? और ज्यादा पढ़ें तो हो सकता है, यह प्रश्न भी सुलझ जाए।

मुख्य सिंह,
ग्राम-पिपली, वाया-कालावाली,
जिला- सिरसा-125201 (हरियाणा)



जनवरी-फरवरी 2012 का अंक मिला। गांधीजी का ऐबेटाबाद का भाषण 'मेरे दिल को चीरकर देखें' हृदयस्पर्शी है। बादशाह खान इल्म, अमल और यकीन के साधक, पक्षधर और प्रतिरूप थे। उनका स्मरण करते ही मानव मात्र की एकता का विश्वास जाग उठता है। उनको 'भेड़ियों की मांड में फेंकने का अपराध करने वाले भी हिंसा की आग से झुलसने के लिए विवश हैं। श्री मैथिली शरण की पंक्तियां स्मरणीय हैं— 'मैं नहीं यहां संदेश स्वर्ग का लाया, इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया। मैं आया जिससे बची रहे मर्यादा, बच जाए प्रलय से अमिट रहे जीवन सादा।' आज मर्यादा और सादा जीवन मिट रहे हैं। विवेक, साहस और अभिक्रम की आवश्यकता है।

सत्यव्रत सिंह,
वेणुकुंज, गुधिया, कैसरगंज,
बहराइच-271903 (उत्तर प्रदेश)



यह पत्र गांधी-मार्ग पत्रिका के बारे में नहीं, बल्कि गांधी-मार्ग, गांधी के मार्ग

के बारे में हैं। जब समर्थ लोग, या जिन पर कानून-व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी है, वे ही लोग उसे तोड़ने लगे तो हम किससे शिकायत करें भला?

कटक (उड़ीसा) के श्रद्धापुर गांव के थाने में एक आदमी शराब की बहुत सी बोतलें ले जाते देखा गया। राष्ट्रीय युवा संगठन की उड़ीसा इकाई के प्रमुख साथी श्री प्रियव्रत अमात ने यह जानकारी सबको दी। इस घटना के कोई दो माह बाद पुलिस ने केस डायरी रिपोर्ट जाहिर की। इसमें बताया गया कि उन बोतलों में शराब नहीं पानी था! थाने में इतनी सारी पानी की बोतलें भीतर पहुंचाने के पीछे क्या कारण रहा होगा भाई? क्या थाना इतना प्यासा था? इसलिए इस रिपोर्ट के आने के एक दिन बाद राष्ट्रीय युवा संगठन ने थाने के सामने शांतिपूर्वक धरना दिया। फिर इस धरने के एक दिन बाद तहसीलदार ने पन्द्रह दिनों में पूरी जांच का आश्वासन देकर धरना हटाने का आग्रह किया। परंतु साथियों ने धरना जारी रखा। दो दिन और बीते कि कटक के एस.पी. और डी.जी. जैसे बड़े अधिकारी धरना की जगह पर आ गए और उन्होंने सारी स्थिति समझ कर केस डायरी रिपोर्ट को खारिज करते हुए सारा मामला अदालत में स्थानांतरित कर दिया। तब कहीं जाकर पुलिस ने एक व्यक्ति को गिरफ्तार किया है। वह अब भी जेल में है। इसके बाद हमने तीन दिन बाद धरना हटा लिया है।

सीतू नायक,
ग्राम-ओस्तोपाल, पो.घाटिपीरी,
वाया-भापुर, जिला ढेंकानल-759015 (उड़ीसा)



गांधी-मार्ग निरंतर मिल रहा है। सामग्री संचयन में इसका कोई सानी नहीं है। तर्जें गुफ्तगू और कलम भी कमाल की।

गांधी-मार्ग ने हमारे जीवन में एक बड़ा मुकाम हासिल कर लिया है। यहां हम कुछ बूढ़े मित्र लगभग नित्य ही थोड़ी-बहुत

देर के लिए मिल कर बैठते हैं। मैंने अपने पास एकत्रित हो गए गांधी-मार्ग के अंक उन्हें पढ़ने के लिए देने शुरू किए और अब हमारी रोजमर्रा की बैठकों में से आलतू-फालतू विषय गैरहाजिर हो चुके हैं। चर्चा रहती है गांधी की और गांधी-मार्ग में प्रकाशित लेखों की। पहले परस्पर चर्चा में हमारे मध्य असहन स्वर भी उभरते थे। किंतु अब तनाव के क्षण आते ही नहीं।

बहुत शीघ्र ही हम अपनी संस्था गांधी भाषा पीठ, जो एक बड़ी मुद्दत से सुप्त पड़ी थी, पुनर्संगठित करने जा रहे हैं। इसकी संगोष्ठियों में मुख्यतः गांधी चर्चा ही हुआ करेगी। यह सब प्रभाव हुआ है गांधी-मार्ग का। गांधी-मार्ग से मुझे बहुत प्रेरक सामग्री मिली। मैंने 'हमारे राष्ट्रपिता' नामक पुस्तक लिखी जो प्रकाशनाधीन है।

देश में गांधी के संबंध में मिथ्या और भ्रम से परिपूर्ण जानकारी बहुत फैली हुई है। वास्तविकता बताने की चेष्टा कम हुई है। गांधी-मार्ग बड़ी निष्ठापूर्वक ऐसी सामग्री का प्रकाशन करता आ रहा है, जिससे फैले हुए भ्रमों का निवारण होता है। गांधी-मार्ग पत्रिका तूफान में दीया लेकर चल रहा है। प्रभु करे इस दिए का स्नेह (तेल) कभी चुके नहीं... आमीन।

धर्मपाल अकेला,
'पुनर्नवा', प्रेमपुरा,
हापुड़, (उत्तर प्रदेश)



मैं यह पत्र डलास, टेक्सास (अमेरिका) से लिख रहा हूँ। गांधी-मार्ग में आदरणीय 'मन्ना' से संबंधित रोचक और प्रेरक प्रसंग पढ़े। बहुत ही अच्छा लगा। पढ़ते हुए उस समय के परिवेश और प्रवृत्तियों को हमने जीवंत महसूस किया।

यहां डलास में एक रेडियो है— 'फन एशिया'। इस पर हर रविवार की रात नौ से दस बजे 'हिन्दी यात्रा' कार्यक्रम प्रसारित होता है। उसके सूत्रधार आदित्यजी से मुलाकात हुई। वे कविता प्रेमी हैं। उनसे

भवानी भाई की कविताओं का जिक्र निकला तो बरबस 'सतपुड़ा के घने जंगल' याद आई और कवि पर गांधी-मार्ग में छपा यह प्रसंग भी। उन्होंने इसमें बहुत रुचि दिखाई। वे आगे इस पर और बात करेंगे।

गांधी शांति प्रतिष्ठान के सभी सहयोगियों को भी अभिवादन।

रवीन्द्र शुक्ला,
ई-8/7, एम.ओ.जी. लाइन्स,
इंदौर, (मध्यप्रदेश)



मई-जून का अंक मिला। बहुत ही आनंददायी और बेहद ज्ञानवर्धक। निस्संदेह प्रायः सभी लेख बार-बार पढ़ने योग्य।

कृष्णकुमार मिश्र
होमी भाभा सेंटर फार साइंस स्टडीज,
वी.एन. पूर्व मार्ग, मानखूद, मुम्बई-400088



पत्रिका गांधी-मार्ग पढ़कर जीवन को जीने की कला जैसी अनुभूति हो रही है। हम कितनी यशभरी विरासत के धनी हैं, यह सहज ही बोध में आ रहा है। कैसे आगे बढ़ाएंगे इसे, इसकी दृष्टि भी। वास्तव में कुछ पृष्ठों में ही, चौंसठ पन्नों में यह ग्रंथ बन गई है।

देवीप्रसाद गुप्ता,
प्रांतीय महासचिव
ग्रामीण पत्रकार संघ,
मौदहा, हमीरपुर-210507 (उत्तर प्रदेश)



पिछले दो-तीन साल से गांधी-मार्ग पत्रिका बराबर पढ़ रहा हूँ। कुछ अलग विषयों पर, कुछ सार्थक पढ़कर मन प्रसन्न होता है। पिछले अंकों में प्रभाष जोशी का लेख विनाश की ओर बढ़ता विकास पढ़कर सोचना पड़ता है कि इस विकास की हम क्या कीमत चुका रहे हैं। क्या 15 प्रतिशत लोगों के विकास से हम विकसित हो

जाएंगे? जनसंख्या के एक बड़े भाग को दो समय की रोटी नसीब नहीं है। सही में अब स्वराज्य जरूरी है। जिसमें आम आदमी को रोटी, रोजगार, शिक्षा, चिकित्सा व रहने को मकान हो।

‘मनसंपर्क का कम्प्यूटर उबुंटू’ लेख पढ़कर आश्चर्य होता है कि ये बड़े-बड़े नाम सिर्फ चोरी के सहारे ही बने हैं। इसलिए उनके सॉफ्टवेयर भी ज्यादातर चोरी से ही चलाए जाते हैं। विश्व शांति का पुरस्कार डायनामाइट के अविष्कारक के नाम दिया जाना भी आश्चर्य होता है। सोपान जोशी ने अंतरराष्ट्रीय स्तर की इन बातों को सीधी, सरल भाषा में गांधी-मार्ग के पाठकों को दिया है। साधुवाद।

गांधी-मार्ग का टाइप यानी उसके अक्षरों का थोड़ा बड़ा होना हम जैसों के लिए बहुत अच्छी बात है। पढ़ने में बहुत आसानी रहती है।

पूरन मर्दा, 7, नालंदा अपार्टमेंट,
अंग्रेजी स्कूल के सामने, वर्धमान नगर,
मालेगांव-423203, जिला-नासिक, महाराष्ट्र।



सोपान जोशी के लेख ‘कुछ लाख रसोइये चाहिए’ से काफी नई वैज्ञानिक जानकारी मिली। एक ठीक जीवन जीने के लिए सही मूल्य व सही जानकारी— दोनों का होना जरूरी है।

समुद्र में लोहतत्व के चक्र के बारे में बहुत कम लोग जानते हैं। हमें अपने भोजन से जो ऊर्जा मिलती है वह हमारी खुराक में मौजूद कार्बोडिड पदार्थों के दहन से प्राप्त होती है। सरल भाषा में कहें तो खुराक में मौजूद शक्कर को जलाकर गर्मी पैदा की जाती है, जिससे हमारा शरीर काम करता है। हम यह भी जानते हैं कि बिना प्राणवायु के कोई चीज जलती नहीं, इसलिए शरीर को सांस द्वारा सतत प्राणवायु याने ऑक्सीजन लेना पड़ता है। सांस द्वारा ली जाने वाली यह ऑक्सीजन फेफड़ों में पहुंचती है, जहां हमारे खून की रक्त

कोशिकाएं या रक्तकण उसे अपने में भर लेते हैं तथा उसे शरीर के समस्त कोशों तक पहुंचाते हैं।

यह काम लोहे के बिना मुमकिन नहीं है। हम जानते हैं की लोहा अगर नमी वाले वातावरण में खुला छोड़ दिया जाय तो उसमें जंग लग जाती है। जंग लगती है लोहे के साथ ऑक्सीजन के मिलने से याने लोहे का स्वभाव हवा में से ऑक्सीजन पकड़ लेने का है। रक्तकण में लोहे के कुछ अणु होते हैं, जो ऑक्सीजन को पकड़ने का काम करते हैं। असल में लोहे के इन्हीं कणों के कारण हमारे शरीर में ऑक्सीजन की आपूर्ति होती है। शरीर को जीवित रखने के लिए जितनी जरूरी ऑक्सीजन है, उतना ही जरूरी लोहा है। हमारे शरीर में लोहे की कमी हो जाए तो पांडुरोग हो जाता है।

इसी अंक का अन्य लेख ‘बिन पत्ती सब सून’ भी हमारी जानकारी में महत्वपूर्ण तथ्यों का इजाफा करता है। कई पत्तियों में लोहा प्रचुर मात्रा में पाया जाता है पर जानकारी नहीं होने से वह हमारी थाली तक नहीं पहुंच पाता। चने की पत्तियों, सरसों की भाजी, चौलाई का साग, राजगिर के पत्ते, पुदीना, अरबी के पत्ते आदि में काफी लोहतत्व होता है। परंतु जब तक इनसे बनने वाली सब्जी में नींबू या टमाटर की खटाई न पड़े यह लोहा नई पत्तियों से निकल कर हमारे खून में नहीं घुल पता। लोहे की कढ़ाई में खाना बनाने से भी लोहतत्व की आपूर्ति हो सकती है।

लेकिन अब धीरे-धीरे शहरी चौकों से लोहे की कढ़ाई हटती जा रही है। जो दूसरे नए चमकीले बर्तन आ रहे हैं, उनसे लाभ तो दूर हानि ही ज्यादा हो चली है। हमारे देश में 60 से 70 प्रतिशत बहनें लोहे की कमी की शिकार हैं। इसे अंग्रेजी में आयरन डेफिसिएन्स एनीमिया या हिमोग्लोबिन की कमी कहते हैं। महिलाओं के शरीर में से मासिकधर्म तथा जचकी के वक्त जो खून निकल जाता है, उसके साथ

आयरन भी निकल जाता है। इसकी खोट या कमी बनी रहती है क्योंकि कई घरों में सब्जियों का एक बड़ा हिस्सा पुरुष चट कर जाते हैं और बचाखुचा कुछ भाग ही महिलाओं के लिए बच पाता है।

समुद्र में लोहे की कमी का ध्यान तो प्यारी नीली व्हेल रख ही लेगी। पर इस धरती पर खूब लोहा है, लेकिन हमारे विशेषकर महिलाओं के शरीर में उसकी कमी कैसे दूर होगी— इस पर भी बहुत काम करना है।

लता शाह, अशोक भार्गव,
ए-86, जगन्नाथपुरम, लालबाग के पास,
बड़ौदा-390011, गुजरात।



‘स्नेह भरी उंगली’ बहुत कुछ देकर गई। बिना कुछ बोले कितना कुछ सिखा गई। फिर वह चिट्ठी तुरंत डाक के डिब्बे में डालने की बात हो या सामने वाले की चिंता कर टोपली भर सब्जी खरीदने की बात हो। संस्कार हर एक कृति से दिया जाता था। सहज शिक्षा कितनी असरकारी होती है न! एकदम सुंदर लेख।

लीला पी. लोहे,
9, आशीष, 5वीं मंजिल,
ताड़देव, बी.बी. मार्ग, मुम्बई-400034



पिछले कोई छह वर्षों से गांधी-मार्ग नियमित पढ़ रहा हूँ। इस दौर में गांधी-मार्ग सचमुच एक भरे-पूरे गुलदस्ते सा होता चला गया है। ढेर सारे रंग-बिरंगे विचारों वाले फूलों से भरा गुलदस्ता। एक ऐसा गुलदस्ता जिस पर आने वाला प्रत्येक अंक नए और मजबूत विचारों का जल छिड़क कर गुलदस्ते में महकते फूलों को और अधिक हरा-भरा और पहले से भी ज्यादा खिला जाता है। इन लेखों ने बीते वर्षों में देश की अनेक समस्याओं को बिना किसी नारेबाजी के बेहद आत्मीयता से छुआ है।

मई-जून अंक भी ऐसे ही भरे-पूरे

गुलदस्ते का खूबसूरत नमूना है। इस अंक को खोलते ही विनोबा अज्ञान को ज्ञान की संज्ञा देते दिखते हैं। आज हम सब ज्ञान के अपार दौर का शिकार हैं। चारों ओर करोड़ों प्रश्नों की शक्लों में ज्ञान बिखरा पड़ा है, लेकिन दोगुने प्रश्नों से उलझा उत्तरों का उजाड़। विनोबा ठीक कहते हैं कि अज्ञान के दौर में बेहूदे प्रश्नों के खरपतवार नहीं थे। आज भी देश के अधिकतर गांव संतोष रूपी अज्ञान में मजे में हैं। वे मूर्ख नहीं हैं। संतोष का अर्थ ही है कि निरर्थक प्रश्नों की उहापोह नहीं है।

आज हम सब ज्ञानी 99 के फेर में हैं। राष्ट्रनिर्माण अब राष्ट्रनिर्माताओं के लिए रचनात्मक कामों की कला का विषय नहीं बचा। नई बनायी जा रही नीतियों का अर्थ मात्र इतना ही है कि लोगों के केश पकड़ कर जमीन से ऊपर उठाओ और जनसंपर्क विभागों से यह प्रचार करवाओ कि देखो, सरकार लोगों का जीवन स्तर ऊंचा उठाने में जुटी है।

गांधी-मार्ग ने जिस प्यार से विनोबा को नई पीढ़ी के सामने प्रस्तुत किया है, उसके लिए पत्रिका साधुवाद की हकदार है। काश देश की कुछ अन्य अच्छी पत्रिकाएं भी देश के ऐसे महापुरुषों को नई पीढ़ी तक इसी सरलता-सादगी से पहुंचाने की कोशिश करें।

सुगंध का चर्मलेख सचमुच हमारे मन का अंहकार गिराता है। आज जब देश के अधिकतर अच्छे काम अपनी सुगंध खो चुके हैं, ऐसे में काका वालुंजकर का मन कैसे एक मुरदार में लक्ष्मी का दर्शन करता है, यह सचमुच भारतीय चरित्रों की ऊंचाई की मिसाल है।

अपने पिता की ‘स्नेह भरी उंगली’ के बारे में ऐसा कितने लोग लिख पाते होंगे, याद नहीं पड़ता। नए और प्रगति पथ पर दौड़ रहे लेखन में संस्कार तो एक वर्जित शब्द है।

आज पत्रकारिता के विराट उजाड़ भरे दौर में शैलेष चटर्जी का लेख ‘समाज

की पाती पढ़ना-लिखना' मन को सुकूं देता है। कुछ समाचार पत्र इस लेख को छापने की हिम्मत दिखा सकें तो कितना अच्छा होगा।

आज शराब खोरी और पशुखोरी को 'स्टेटस सिम्बल' मान लिया गया है। ऐसे में पाकिस्तानी लेखक श्री मंशा याद की कहानी 'डंगर बोली' पढ़ना अपनी आत्मा को झिंझोरना है। संवादहीनता के इस वीभत्स दौर में क्या पशु हमारे परिवेश का हिस्सा बचे हैं— कहानी ऐसा सोचने को मजबूर करती है।

गांधी-मार्ग निराशाओं के तवे से तपते दौर में शीतल जल से विचारों की छबील, प्याऊ है। यह छबील सबकी आत्मा को ठंडक पहुंचाती रहे। इन्हीं शुभकामनाओं सहित।

सुरेन्द्र बांसल,

1023- पहली मंजिल, 38 बी, चण्डीगढ़।



स्कूल के बाद हिन्दी में लिखना-पढ़ना लगभग छूट-सा गया था। अंग्रेजी के बढ़ते चलन की बाढ़ में बह जाना भी इसका एक कारण था। फिर काम भी ऐसा मिला, जिसमें सारी लिखाई-पढ़ाई अंग्रेजी में थी। मैं विज्ञान और पर्यावरण की एक अंग्रेजी पत्रिका में रिपोर्टर बन गई थी।

पिछले तीन सालों से मैं गांधी-मार्ग की नियमित पाठक हूँ। पत्रिका का हर लेख पढ़कर हमेशा कुछ अच्छा काम करने की प्रेरणा मिलती है। बहुत बार खुद लिखने की और लेखों में दिए गए संदेश को अपनी जिंदगी में डालने की भी कोशिश की। कुछ लेखों को पढ़कर उस विषय में आगे और जानने की उत्सुकता भी बढ़ी। ऐसा ही एक लेख 'स्नेह भरी उंगली' मई-जून 2012 के अंक में पढ़ा।

कविवर भवानी प्रसाद मिश्र की कविताएं हमने दसवीं कक्षा में ही पढ़ी थीं। अब उनके जीवन के बारे में पढ़कर नई

बातें जानकर उनकी और कविताएं पढ़ने का कौतुहल जगा। जिस विषय को हमने कभी परीक्षा पास करने के बाद भुला दिया था, उसको अरसे बाद एक बिलकुल नई दृष्टि से देखने का मौका मिला। स्कूल की अपनी पुरानी पुस्तक निकालकर 'प्राणी वही प्राणी है' पढ़ने के अलावा 'गीत फरोश' 'तुम कागज पर लिखते हो' और 'कवि' जैसी कविताएं भी खोजकर पढ़ीं और शायद पहली बार हिन्दी कविताओं को आनंद लेकर पढ़ा और समझा। मिश्रजी की पंक्तियां 'कलम अपनी साध' मन को छू गईं। कहीं और छपे एक लेख में 'कवि' नामक उनकी एक छोटी-सी कविता की व्याख्या पढ़ कर समझ में आया कि अच्छा लिखने के लिए किस तरह की तपस्या चाहिए।

इसी अंक में एक और लेख 'सुगंध का चर्मलेख' बहुत ही अच्छा लगा। मृत पशुओं के चमड़े से जूते-चप्पल बनाने की प्रक्रिया को जानकर पता लगा कि अहिंसा किसी एक मंदिर में रखकर पूजने वाला सिद्धांत नहीं, बल्कि रोजमर्रा की जिंदगी के छोटे-छोटे कामों में उपयोग में लाए जाने वाली वृत्ति है। अहिंसा के इतने रचनात्मक प्रयोग के बारे में मैंने पहले कभी नहीं पढ़ा था। अब ऐसी सब छोटी-छोटी बातें सोचती हूँ, तो धीरे-धीरे अहिंसा का एक बड़ा चित्र कुछ धुंधला ही, सही दिखने लगा है।

रवलीन कौर,

जे.-182, पहली मंजिल,
विकासपुरी, दिल्ली- 110018



गांधी-मार्ग मिला। पढ़ा। पहली बार जाना, स्वस्थ पत्रकारिता क्या होती है। 43 वर्षों से मीडिया में हूँ। खूब लिखा, खूब बोला, खूब छपा और फिर पत्रकारिता सिखाने वाले चार संस्थानों में पढ़ाया भी। गांधी-मार्ग की सुंदर सादी छपाई, मोती जैसे अक्षर, अंतिम सत्य कहते शब्द। नपा

तुला वाक्य विन्यास और सीधी सपाट सच्ची बात कहने वाले लेख। 54 वर्षों से निकलने वाला द्वैमासिक और भी ज्यादा प्रचारित और प्रसारित होना चाहिए। घर-घर पहुंचना चाहिए। स्कूल कालेजों में इस पर चर्चा होनी चाहिए।

ओम गुप्ता,
डी-41, फ्रीडम फाइटर्स एन्क्लेव
नेब सराय, नई दिल्ली-110068



गांधी-मार्ग के मार्च-अप्रैल अंक में श्री अरुण डिके का लेख 'बैंगन की छांव तले' खूब अच्छा है। लेखक ने इस लेख में लंदन स्कूल फॉर डेवलपमेंट स्टडीज की ओर से छपी एक पुस्तक का उल्लेख किया है। अच्छी खेती करने वाले उद्यमी किसानों की जानकारी देने वाली इस किताब फार्मर्स फर्स्ट के बारे में भी गांधी-मार्ग में कुछ जा सके तो हम श्री अरुण डिके के ऋणी होंगे।

वसंतराव केदार,
गांव- राजंदा, मार्ग साजना पेठ,
जिला- अकोला-444001 (महाराष्ट्र)



मैं गांधी-मार्ग का एक युवा पाठक हूँ। मैंने आचार्य राममूर्तिजी को बहुत पहले गुजरात के एक युवा शिविर में सुना था। उनका प्रवचन सुनने के बाद हर कोई सोचने पर मजबूर हो गया था। गांधी-मार्ग के पिछले अंकों में उन्हें पढ़ने का मौका मिला। उनका लेख एक ही प्रश्न:हिंसा हिला देने वाला लेख है।

श्री प्रभाष जोशी, श्री सोपान जोशी और श्री चंद्रशेखर धर्माधिकारी जी को पढ़ने की हमेशा ख्वाहिश रहती है।

हितेश डायभाई बाघेला,
अश्विन मनसुखभाई सांगाणी, मु.-जालिया,
ता.-जिला-अमरेली-365610 (गुजरात)



पाकिस्तान के कथाकार मुहम्मद मंशा याद की कहानी 'डंगर बोली' ने मुझे हिला दिया है। और शायद मैंने इससे पहले के एक पत्र में 'स्नेह भरी उंगली' के बारे में भी ऐसा ही लिखा था।

डी.के.ओझा,
1, फर्स्ट क्रॉस स्ट्रीट, इंदिरा नगर,
अडयार, चेन्नई, (तामिलनाडु)



जुलाई अगस्त अंक में शाकाहार की महत्ता स्थापित करता सोपान जोशी का आलेख 'कुछ लाख रसोइए चाहिए' अनूठा है। सत्य को सीधा-सीधा कहने और स्वीकार करने की गांधीजी की शैली मात्र यदि वर्तमान नेतृत्व और गांधी विचार के पोषक अपना लें तो शुद्धिकरण का सूत्रपात हो जाएगा। सुधांशुभूषण मिश्र, श्री पद्रे प्रभावित करते हैं। कुमार प्रशांत और शुभू पटवा ने जाने पहचाने विचार को भिन्न धार दी है। सभी स्थाई स्तंभ और टिप्पणी 'ताम्रपत्र पर नोट वाले गांधीजी' बहुत कुछ कह जाते हैं। विश्वास है कि 'गांधी-मार्ग' हमें इसी प्रकार सदैव समृद्ध करता रहेगा।

भगवान अटलानी,
डी.-183, मालवीय नगर,
जयपुर-302017 (राजस्थान)



उभरते हिमाचल की परिभाषा उन्नति, खुशहाली और आशा



प्रदेश की सेवा व सुशासन के 4½ वर्ष

विकास कार्यों से बढ़ाई शान, देश-विदेश में रेशन किया नाम

- पर्यावरण संरक्षण के लिए प्रधानमंत्री अवार्ड
- शिक्षा, स्वास्थ्य और निवेश में सर्वश्रेष्ठ राज्य
- स्वास्थ्य सेवाओं में WHO-SEARO अवार्ड
- स्वास्थ्य बीमा योजना के अन्तर्गत सर्वाधिक स्मार्ट कार्ड जारी करने वाला देश में सर्वश्रेष्ठ राज्य
- गरीबी उन्मूलन, रोजगार सृजन, शिक्षा एवं पर्यावरण के लिए डायमंड स्टेट अवार्ड
- कृषि विकास में बेहतर कार्य करने के लिए राज्य कृषि नेतृत्व अवार्ड
- डॉचागत विकास में सर्वश्रेष्ठ राज्य
- पर्यटन की दृष्टि से देश में सर्वश्रेष्ठ राज्य
- वीस सूत्री कार्यक्रम के कार्यान्वयन में देश में सर्वश्रेष्ठ राज्य

...गत् 4½ वर्षों में मिले 67 अवार्ड

नई नीतियों व नई योजनाओं की प्रणेता - हिमाचल सरकार

- ₹610 करोड़ का अनुदान देकर 16,31,804 राशन कार्ड धारकों को सस्ती दरों पर राशन
- अटल स्वास्थ्य सेवा - फ्री 108 एम्बुलेंस सेवा से 1,45,360 रोगियों को लाभ
- अटल स्कूल यूनिफार्म योजना - ₹64 करोड़ की लागत से 9,27,205 विद्यार्थियों को फ्री यूनिफार्म
- अटल विजली बचत योजना - ₹65 करोड़ की लागत से दिए सभी घरेलू उपभोक्ताओं को CFL बल्ब फ्री
- ₹353 करोड़ की पंजित दीन दयाल किसान-बागवान समृद्धि योजना - 12,500 पॉलीहाउस निर्मित एवं सूक्ष्म सिंचाई के लिए 80% अनुदान
- अटल आवास योजना - 13,918 आवासों का किया निर्माण
- मातृ सेवा योजना के अन्तर्गत प्रसूति सेवाएं फ्री और दवाइयां भी फ्री
- माता शबरी महिला सशक्तिकरण योजना - गैस कनेक्शन / स्टोव खरीदने पर 50% उपदान
- स्वास्थ्य बीमा योजना - 73,010 स्मार्ट कार्ड धारकों को ₹30 करोड़ का लाभ
- दूध गंगा योजना - ₹30 लाख तक का ऋण, 25% से 33% तक का अनुदान
- भेड़ पालक समृद्धि योजना - एक लाख रुपये तक का ऋण, 33.33% का उपदान

प्रेम कुमार धूमल
मुख्यमंत्री, हिमाचल प्रदेश

हमें गर्व है अपने हिमाचल पर



रजिस्टर्ड नं 4545/57

जो बात हमारे पुरखे कोई हजार साल पहले समझ गए थे, कोई सौ-डेढ़ सौ साल पहले यूरोप और एशिया के लोग भी समझ गए, वह बात आज भी हमारे नुमाइंदे और विशेष ज्ञान का दावा करने वाले वैज्ञानिक नहीं समझ पा रहे हैं। जो रात-दिन अपनी ही नस्ल को खोटा करने में लगे हों, उनसे क्या उम्मीद करें।

